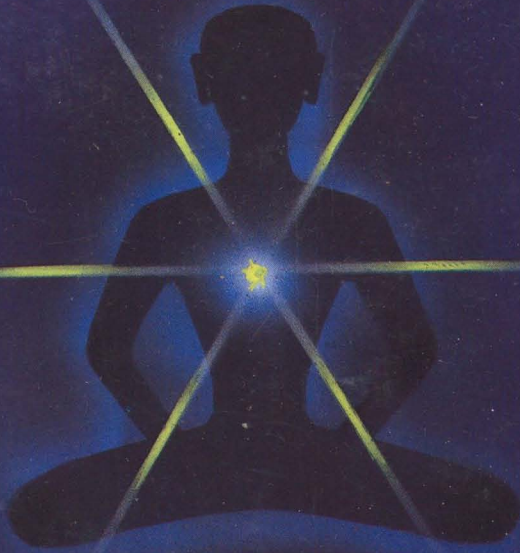


महागुहा की चेतना



महोपाध्याय ललितप्रभसागर

महागुहा की चेतना

महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

सौजन्य-संविभाग

श्री शानुरामजी बेंगानी की स्मृति में
श्री चम्पालालजी, सुनील कुमारजी, प्रवीण कुमारजी
रविकुमार बेंगानी, जयपुर

महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

महागुहा की चेतना

संबोधि-सूत्र पर अमृत प्रवचन

जितयशा फाउंडेशन, कलकत्ता

महागुहा की चेतना
श्री ललितप्रभ

तृतीय संस्करण : दिसम्बर, 1999

सन्निधि : गणिवर श्री महिमाप्रभसागर जी
सम्पादन : श्रीमती लता भंडारी/आवरण : दिलीप गोपानी
प्रकाशक : जितयशा फाउंडेशन, 9 सी-एस्प्लानेड ईस्ट, रूम नं. 28, कलकत्ता-69
कम्प्यूटरीकरण : जांगिड़ कम्प्यूटर्स, जोधपुर/मुद्रण : पॉपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर
मूल्य : 20/-

अभ्यर्थना

‘महागुहा की चेतना’ साधक के लिए साधना का प्रवेश-द्वार है । ध्यान इसकी विधि है और समाधि उसकी मंजिल । यह सारी प्रक्रिया मूर्च्छा से उपरत होते हुए प्रज्ञा की ओर उठने वाला कदम है । संसार में रहते हुए भी संसार से अलिप्त होने का विज्ञान ही ध्यान है ।

मनुष्य का चित्त उच्छृंखल वृत्तियों का लावा है और मन चंचलताओं का स्वामी । अन्तरजगत में उतरने के लिए पहला बाधक मनुष्य का मन ही है , किन्तु द्रष्टा-भाव और साक्षी-भाव का सर्वोदय हो जाए तो साधक का मन स्वयं सहायक बन जाता है । पहले चरण में हम मन को देखें, मन से अलग होकर उसकी चंचलता और उसके यातायात को पहचानें । यदि हम मन के बहाव में बह गए, तो ध्यान के राजपथ पर हमारा पहला कदम ही गलत पड़ गया । मनोविचारों को स्वयं से पृथक देखने में हम अगर सफल हो गए, तो समझो ध्यान का गुर हाथ लग गया ।

मन में जो कुछ भी उठे, हम उसे देखें भर । वह बुरा है या भला, इसका मूल्यांकन न करें ; तभी तटस्थता संभावित है । हम मन को रोकें नहीं, वरन् मन से स्वयं को अलग देखें । कर्त्ता-भाव विलीन हो जाए और द्रष्टा-भाव साकार हो उठे । मन के किसी भी भाव पर न तो ग्लानि करें, न गर्व । जो भी है उसे प्राकृतिक मानें और इस तरह मन को शांत और तिरोहित हो जाने दें । उस शांति की धारा में, भीतर के चित्ताकाश/अंतस् के आकाश में जो सौम्य अनुभूति उतरती है उसी का नाम है – ‘संबोधि-सूत्र’ ।

प्रस्तुत ग्रंथ जीवन-उत्कर्ष और अध्यात्म की एक नव्य और भव्य रचना 'संबोधि-सूत्र' पर दिए गए वक्तव्य और प्रवचन हैं। ये प्रवचन जिज्ञासुओं एवं ध्यान-साधकों की भावना के वशीभूत होकर मेरी ओर से जोधपुर स्थित गीता-भवन में दिए गए हैं। निश्चय ही इस अनूठे और रस भरे 'संबोधि-सूत्र' पर मुझे सुनकर लोग आनंदित और संप्रेरित हुए, किंतु इससे भी बढ़कर यथार्थ यह है कि इसके हर सूत्र ने मुझे पुलक और अन्तस् का स्पर्श प्रदान किया।

संबोधि-सूत्र रचना किसकी है, यह हम सभी जानते हैं। यह रचना लिखी नहीं गई, वरन् अन्तर के आनन्द में स्वतः अवतरित हुई है। चेतना के आकाश में घटित महाशून्य ही इसका निर्माता है। श्री चन्द्रप्रभजी कहते हैं "इस रचना के लिए मुझे उल्लेखित न किया जाए। मेरा नाम और आकार गौण है, निराकार का नूर ही मुख्य है। संबोधि-सूत्र तो महावीर का मौन है और मीरा का नृत्य।"

संबोधि-सूत्र के छत्तीस पदों पर जितना बोला जाए, जब भी बोला जाए, गुनगुनाया जाए, साधक की अंतरात्मा को सुकून ही मिलना है। शांत, सौम्य, आनन्द-भाव से संबोधि-सूत्र को गुनगुनाना अपने आप में जीवन की गहराई की जुगाली करना है।

परम आत्मीय, सौम्य सरल हृदया और साधना की समर्पण-मूर्ति श्रीमती लता भंडारी ने प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में अपनी जो अनुपम सेवाएं दी हैं, उसके लिए उन्हें मैं क्या साधुवाद दूं! उनका श्रम और समर्पण स्वयं ही साधुता का पर्याय है।

ग्रंथ घर-घर पढ़ा जाए, सभी इससे प्रेरित होकर अध्यात्म की ओर उन्मुख हों, निर्मल चित्त के स्वामी होकर जीवन-जगत को जिएं, यही अभ्यर्थना है।

ललितप्रभ.

अनुक्रम

1. अन्तस् का आकाश	1
2. बाँहों भर संसार	10
3. सातों दिन भगवान के	19
4. काया मुरली बाँस की	29
5. करें, मन का कायाकल्प	38
6. पहचानें, निज ब्रह्म को	52
7. सद्गुरु बांटे रोशनी	62
8. मुक्ति : प्राणिमात्र का अधिकार		72
9. साक्षी-भाव : ध्यान का आधार		83
10. प्रेम का विस्तार	92
11. साक्षी हों वर्तमान के	101
12. शान्त मनस् ही साधना	111

अन्तस् का आकाश

आज से हम एक नए अध्याय की शुरुआत कर रहे हैं, अध्यात्म के अध्याय की। अध्याय के शब्द बहुत सीधे-सरल हैं, किन्तु जितना गहरा अध्यात्म है, उतना ही गहरा यह अध्याय है। विश्व के धरातल पर कभी-कभी ही खुलते हैं ऐसे अध्याय, कभी-कभी ही उभरते हैं ऐसे क्षितिज, कभी-कभी ही बरसता है ऐसा अमृत। आज हम जिस क्षितिज की ओर अपने कदम बढ़ा रहे हैं वह इस अध्यात्म के अध्याय के माध्यम से मेरी ओर से दिया जाने वाला इशारा भर होगा, संकेत भर होगा। अध्यात्म तो आकाश की भांति है। अनन्त है यह। जो इसमें अवगाहन करता है, जो इसमें उड़ान भरता है, जो इससे पुलकित होता है वही आकाश की थाह को जीत सकता है, माप सकता है।

संबोधि-सूत्र एक नव्य, किन्तु भव्य, अध्यात्म की रचना है, अध्यात्म का अध्याय है। अवश्य ही रचनाकार बहुत गहरा डूबा होगा, अनन्त आकाश में उतरा होगा, तभी ऐसी रचना निष्पन्न हुई है। सागर ने इतने चमकीले मोती हर साधक के हाथ में सौगात के रूप में दिए हैं। आकाश ने कुछ मेघ-पुष्प बरसाए हैं और हमें सुवासित और आह्लादित होने का, आकंट रसपान करने का मौका और निमंत्रण दिया है।

संबोधि-सूत्र जिसे मैं खास तौर पर आप लोगों को संबोधित करने के लिए ले रहा हूँ, अपने आप में संबोधि का निर्झर है, जीवन में संबोधि के सरोवर तक पहुँचने का राजमार्ग है। आदमी अनजान ही है अपने आप से। अगर आदमी को पहचानना है कि 'मैं कौन हूँ' तो संबोधि-सूत्र हमारे आत्मिक जीवन के रहस्य भरे कई पर्दे उघाड़ सकता है। जगत को जाना तो क्या जाना, अगर अपने से अनजाने रहे।

झेन फकीर बाइज़ीद अपनी कुटिया में बैठे थे। एक अतिथि उनसे मिलने कुटिया के बाहर पहुँचा। कुटिया का दरवाजा भीतर से बंद था। अतिथि ने चार-पाँच दफ़ा आवाज़ लगाई, मगर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसने फिर आवाज़ दी—भीतर कौन है ? उसने दरवाजा भी खटखटाया, मगर न कुटिया से आवाज़ आई और न दरवाजा खुला। थक-हारकर आगन्तुक वहीं बैठ गया।

सांझ ढलने को आई, तो दरवाजा खुला और संत बाइज़ीद बाहर आए। आगन्तुक ने प्रणाम किया और पूछा—सद्गुरु, मैंने एक बार नहीं, सौ-सौ बार पूछा कि भीतर कौन है, मगर कोई जवाब नहीं दिया। संत मुस्कराए और कहने लगे—वत्स, मैं भीतर बैठा यही जानने की कोशिश कर रहा था कि 'भीतर कौन है ?' जब तक मेरे भीतर से आवाज़ न आ जाए कि भीतर कौन है, तब तक मैं क्या जवाब देता ?

साधना का प्रारम्भ, साधना का मध्य और साधना की पूर्णता इसी बात में निहित है कि भीतर कौन है ? जहाँ इस सत्य की तलाश शुरू हो गई, समझो वहाँ साधना प्रारम्भ हो गई; व्यक्ति अगर इस तथ्य के करीब पहुँच गया कि भीतर कौन है, जिसे यह ज्ञात हो गया कि भीतर कौन है, समझो उसकी यात्रा पूर्ण हो गई। दुनिया में साधना की चाहे जितनी विधियाँ रही हों, हर विधि—हर पद्धति का मूल-उत्स ध्यान है। ध्यान मार्गों का मार्ग है।

ध्यान के द्वारा व्यक्ति इस बात की प्रतीति करता है कि भीतर कौन है, मैं कौन हूँ, मेरा अस्तित्व क्या है ? ध्यान वास्तव में व्यक्ति की अंतर्यात्रा की एक प्रक्रिया है। जैसे बाहर की यात्रा को प्रारम्भ करने के लिए और उसे पूर्णता देने के लिए बाहर के साधन होते हैं, वैसे ही भीतर की यात्रा को पूर्णता देने का भी साधन है और वह साधन है ध्यान। अगर व्यक्ति ध्यान से चूक रहा है; अपनी चेतना की प्रतीति से छूट रहा है; आत्म-संबोधि, आत्म-सुवास और आत्म-चेतना के करीब नहीं पहुँच पा रहा है, तो इसका अर्थ हुआ कि उसके भीतर की यात्रा अभी तक प्रारम्भ नहीं हुई है।

आदमी संसार में जन्मता है और संसार में ही मर जाता है। वह इस तथ्य की ओर आँखें मूंदे रहता है कि जन्म से पहले हम कौन थे, मर जाने के बाद हम क्या होंगे ? वास्तविकता यही है कि जन्म लेने से पूर्व भी हमारा अस्तित्व था और मर जाने के बाद भी हमारा अस्तित्व रहेगा, लेकिन हमने अपने अहंकार और पुद्गल तत्त्वों के प्रति पलने वाली आसक्ति के चलते अपने इस अस्तित्व को नकार दिया है। जन्म लेने के बाद व्यक्ति का कुछ भी नाम दे दिया जाता

है और मरने के बाद वह नाम शरीर के साथ ही खत्म हो जाता है। और, आदमी इस भौतिक नाम को फँसाने के लिए, इसे प्रसिद्धि देने के लिए असंख्य चेष्टाएँ करता है। वह उस नाम को, उस तत्त्व को जानने की चेष्टा नहीं करता, जो सौ-सौ दफा मर जाने के बावजूद सचेतन रहता है, जाग्रत रहता है।

माता-पिता हमारे जन्म के सांयोगिक आधार हैं और मृत्यु भी एक संयोग ही है। लोग कहते हैं जब देह की अन्त्येष्टि हो गई तो काम पूरा हो गया। नहीं, अब तक तो केवल शरीर का काम पूरा हुआ है, क्या आत्मा का काम भी पूरा हो गया होता है? यह चेतना तो हजारों-हजार दफा मृत्यु के द्वार से गुजर जाने के बाद भी वैसी की वैसी शाश्वत रहती है। इसी चेतना को, इसी मूल तत्त्व को चीह्न लेने का, पहचान लेने का नाम ध्यान है। इसी का नाम संबोधि है और इसी का नाम आत्म-उत्सव और आत्म-आनंद है।

कबीर कहते हैं—

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।

संसार की चक्की चलती है और कोई भी दाना जन्म-मृत्यु के दो पाटों के बीच में साबुत नहीं बच पाता, फिर भी कुछ दाने चक्की में बच जाते हैं। क्या आपने सोचा कि वे दाने चक्की में कहाँ रहे? वे दानें चक्की की कील से चिपके रहे, जिससे वे बच गए। जिस दाने को कील का, जिस व्यक्ति को संसार की चक्की में ध्यान का सहारा मिल गया, वह कभी पिसने वाला नहीं। हम सबके लिए, जो प्रभुता के मार्ग को पकड़ना चाहते हैं, समाधि के मार्ग पर अग्रसर होना चाहते हैं, यह जरूरी है कि आत्म-कील को पकड़ लें। यह कील हमें संसार की चक्की के पाटों से बचाए रखेगी, हमें सुरक्षा प्रदान करेगी।

व्यक्ति को कील का सहारा तभी मिल पाता है, जब वह अपने आत्मजगत में प्रवेश करने की कोशिश करता है। अध्यात्म का अगर कोई पहला या अंतिम मार्ग है, तो वह ध्यान है। व्यक्ति अपने आत्मतत्त्व को जान ले, यही ध्यान की उपलब्धि है। अगर खुद को पहचान लिया, आत्मबोध प्राप्त कर लिया और सारी दुनिया को न भी जान पाए, तो कुछ जानना शेष न रहा। इसके विपरीत, अगर सारी दुनिया को जान लिया, लेकिन खुद को न जान पाए तो कुछ भी नहीं जान पाए। सारी क्रियाओं का, सारी उपाधियों का, सारी विधियों का तो ज्ञान प्राप्त कर लिया, लेकिन खुद का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाए, तो मेरे प्रभु, सब कुछ जानकर भी अज्ञान में ही रह गए। परम ज्ञानी, सर्वज्ञ वही बन

सकता है, जो ध्यान के मार्ग में प्रवेश करता है। स्व का ज्ञाता ही तो सर्वज्ञ होता है। मेरे देखे विश्व के अध्यात्म-जगत की आत्मा अगर भारत है, तो भारत के अध्यात्म-जगत की आत्मा ध्यान है।

जैसे शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड़ें महत्वपूर्ण होती हैं वैसे ही अध्यात्म के समस्त भागों का मूल ध्यान है। एक वृक्ष से अगर पत्ते तोड़ लिए जाएं, तो वृक्ष को कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उसके फल तोड़ लिए जाएँ या शाखाएँ भी काट ली जाएँ, तो भी उसे कोई हानि नहीं होगी, लेकिन अगर वृक्ष की जड़ें ही काट दी जाएँ, तो वृक्ष का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। जैसे वृक्ष में उसका महत्वपूर्ण अंग जड़ें हैं, वैसे ही मानव-देह की जड़ें उसका मस्तिष्क है। मस्तिष्क को क्षति पहुँची कि मनुष्य का शरीर अक्षम हो जाता है, हर तरह से नाकाम। जिस तरह बीमार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए 'मेडिसिन' की आवश्यकता होती है, उसी तरह उसकी चेतना के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए 'मेडिटेशन' की आवश्यकता होती है। चेतना को स्वस्थ, निर्मल और पावन करने के लिए ध्यान औषधि है।

जो व्यक्ति ध्यान में जीता है, वह मुक्ति-लाभ को प्राप्त कर लेता है। हमारा हर कृत्य, हर गतिविधि ध्यान से जुड़ी होनी चाहिए। हमारे यहाँ कहावत है—अंत मति सो गति। लेकिन ध्यान है विचार-मुक्ति का साधन। शुभ और अशुभ भावों से ऊपर उठना। ठीक ऐसा ही है जैसे स्वर्ग और नरक के विचार से उठकर मोक्ष पाना। स्वर्ग और नरक तो विचारों की भांति हैं जो शुभ और अशुभ के प्रतिनिधि हैं, लेकिन स्वर्ग और नरक के ऊपर एक और तत्त्व है, जिसे हम मोक्ष कहते हैं। ध्यान के मार्ग से गुजर जाने पर हमारे भीतर न तो शुभ विचार होंगे और न अशुभ विचार ही, तभी उसकी परिणति मृत्यु के बाद मोक्ष के रूप में होगी। जहाँ व्यक्ति विचार से मुक्त हो गया, अपने भीतर चलने वाले वैचारिक संघर्ष से मुक्त हो गया, तो वहाँ ध्यान मुक्ति का संदेश लिए आता है।

इस मुक्ति-लाभ के लिए गहरे में डुबकी लगानी होगी। अगर हम ऊपर-ऊपर तैरते रह गए, तो हाथ कुछ भी नहीं आने वाला है। जो भीतर के सागर में जितना गहरा उतरा, उसे उतना ही अधिक मोतियों का खजाना हाथ लगा।

मुझे याद है। एक आदमी अपने घर से निकलता तो बाहर मौहल्ले में दस-पन्द्रह बच्चे खेल रहे होते। वह उनसे पूछता कि ताजमहल के बारे में जानते हो ? बच्चे कहते कि नहीं, हम तो नहीं जानते। तब वह कहता—बेवकूफों, दिन भर यहाँ पड़े रहते हो। कभी बाहर जाओ, तो पता चले कि दुनिया में ताजमहल भी है। इसी तरह वह कभी कुतुबमीनार के बारे में पूछता, तो कभी इंडिया

गेट के बारे में। बच्चे हमेशा सिर हिलाकर 'नहीं' कह देते। तब वह उन सबको बेवकूफ घोषित करके चल देता। व्यक्ति के अहंकार का तब पोषण होता है, जब उसके आगे कम ज्ञानी व्यक्ति आ जाए।

एक दिन की बात है कि वह व्यक्ति बाहर जा रहा था। उस दिन बच्चों ने उसे घेर लिया और कहा—हमेशा आप हमसे सवाल करते हैं और हम जवाब देते हैं, मगर आज हम प्रश्न करेंगे और आपको जवाब देना होगा। अच्छा, बताइए—क्या आप रामू के बारे में जानते हैं? वह बेचारा सकपका गया। उसने कहा—रामू! यह रामू कौन है? बच्चे कहने लगे—क्या तुम रामू को नहीं जानते? जब तुम घर के बाहर भटकते रहते हो तो एक आदमी तुम्हारे यहाँ आता है, उसी का नाम रामू है। घर में रहो तो मालूम चले कि पीछे क्या हो रहा है।

व्यक्ति दिनभर बाहर भटकता रहता है, सारी दुनिया की जानकारियाँ इकट्ठी कर लेता है, पर उसे यह नहीं मालूम कि उसके अपने भीतर क्या है? काश! व्यक्ति जान पाए कि उसका मूल उत्स क्या है? वह कहाँ से आया है, उसे कहाँ जाना है? वह कौन है, उसका लक्ष्य क्या है? आने वाले दिनों की यात्रा आत्म-संवाद, आत्म-बोध का प्रयास होगी, संबोधि-सूत्र को स्वीकार करने की एक कोशिश होगी।

संबोधि यानी सम्यक् बोध, सम्पूर्ण बोध; अपनी चेतना का ज्ञान, अपनी सम्यक् दृष्टि को उपलब्ध करना। अपने चेतन-तत्त्व को उपलब्ध करके निजानंद में डूब जाना, इसी का नाम संबोधि है। जब महावीर के चरणों में चंडकौशिक ने डंक मारा, तब महावीर ने उसे एक ही शब्द कहा, उस शब्द को मैं शास्त्र की संज्ञा दे सकता हूँ। महावीर ने कहा—चंडकोरिस बुझ ! चंडकौशिक ! तू बोधि प्राप्त कर। अगर तू बोधि-प्राप्त कर रहा है, तो समझ ले तेरी चेतना निष्कलुष हो गई है। ये सूत्र संबोधि की सुवास है, संबोधि की बौछार है। अगर हम लोग इन सूत्रों में गहराई से, तन्मयता से डूबने की कोशिश करेंगे, तो प्रतीत होगा कि अनन्त के मोती हमारे करीब, और करीब आ रहे हैं। सूत्र हैं—

अंतस् के आकाश में, चुप बैठा वह कौन ।
गीत शून्य के गा रहा, महागुफा में मौन ॥
बैठा अपनी छांह में, चितवन में मुस्कान ।
नूर बरसता नयन से, अनहद अमृतपान ॥
शांत हुई मन की दशा, जगा आत्मविश्वास ।
सारा जग अपना हुआ, आँखों भर आकाश ॥

वह कौन है जो अन्तस् के आकाश में चुप बैठा है। वह कौन है जो अन्तर की महागुफा में मौन, शून्य के गीत गुनगुना रहा है। उस 'कौन' की खोज का नाम ही साधना है। संबोधि-सूत्र की शुरुआत ही तुम्हें कुरेदने से हो रही है, भीतर के जगत में सीधा प्रश्न उतारा जा रहा है कि वह कौन है। वह कौन है जो आकाश में बदलियों की आवाजाही के बावजूद, बादलों के गरजने और बिजलियों के चमकने के बावजूद सबसे अलिप्त, सबसे निस्पृह बना हुआ है। वही है वह, जो अन्तस् के आकाश में आत्म-स्थित है, चुप है, मौन है। वही है वह, जो जीवन की महागुफा में शून्य के गीत गुनगुना रहा है।

ध्यान का मूल लक्ष्य, मूल गंतव्य क्या है ? तो तलाश शुरू हुई अंतस् के आकाश से। जो भीतर के मंदिर में शांत बैठा है, मौन बैठा है, इसके बावजूद वह अनंत आकाश की यात्रा प्रारम्भ कर रहा है। वह आकाश अंतर का आकाश है, भीतर का आकाश है।

मनुष्य सृष्टि की पूर्ण इकाई है। सृष्टि के निर्माण में पंचतत्त्वों का योग है। मनुष्य का निर्माण भी इन्हीं पंचतत्त्वों से हुआ है। मनुष्य के निर्माण में पृथ्वी का हाथ है, क्योंकि उसकी काया मिट्टी की है; मनुष्य के निर्माण में अग्नि का हाथ है, क्योंकि उसके भीतर उष्णता है; मनुष्य के निर्माण में सागर का हाथ है, क्योंकि मनुष्य के भीतर जल है; मनुष्य के भीतर आकाश है, क्योंकि उसके भीतर शून्य है। सृष्टि के हर अंश के सामूहिक संगठन से मनुष्य की निर्मिति होती है।

मनुष्य जिन्दगी की नई यात्रा प्रारम्भ कर रहा है, तो उसका पहला चरण है—'अन्तस् के आकाश में।' यह यात्रा भीतर उतरने की, अन्तस्सौन्दर्य को पहचानने की है। जब तक भीतर न उतरा, अंतर के आकाश का बोध नहीं हुआ। तब भले ही अध्यात्म, धर्म, सम्प्रदाय के करीब चले जाओ, लेकिन हाथ कुछ भी नहीं लगने वाला है। मैंने सुना है, एक अधिकारी को आदेश मिला कि वह अमुक जिले के अमुक क्षेत्र में जाकर देखकर आए कि वहाँ आलू की खेती कैसी हुई है ? अधिकारी उस जगह पर गया और लोगों से पूछा कि आलू के खेत कहाँ हैं ? उसे खेत बता दिए गए। वह खेतों में पहुँचा और देखने लगा, चारों ओर नजर घुमाई पर कहीं कोई आलू दिखाई नहीं दिया। वहाँ तो पत्ते लहलहाते दिखे। उसने पौधों को, पत्तों को बारीकी से देखा, मगर आलू कहीं नहीं थे। वह थक-हारकर गाँव में पहुँचा और शिकायत की। एक गाँव वाला उसे फिर से खेतों में ले गया। वहाँ उसने पौधे के पास की थोड़ी-सी मिट्टी हटाई और आलू निकालकर उस अधिकारी के हाथ में रख दिया।

हमारी चेतना की परिणति भी बिल्कुल ऐसी ही है, जहाँ हम लोगों के हाथ में केवल पत्ते लगे हैं, क्योंकि मिट्टी हमने हटाई नहीं है। कई बार खेतों में जाते रहे, वापस आते रहे। बार-बार धर्म और अध्यात्म की यात्राएँ करते रहे, लेकिन इसके बावजूद वापस लौटकर आते रहे। अन्तस् के आकाश में उतरने का एकमात्र मार्ग ध्यान है, लेकिन यह न समझना कि पहले दिन ध्यान करने बैठे और सब कुछ पा लगे। ऐसा होता है। लोग आते हैं और कहते हैं—क्या बताएँ, जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तो मन ज्यादा भटकना शुरू हो जाता है। यह प्रारम्भिक तौर पर होगा ही क्योंकि आप मन को वापस ला रहे हैं—स्वयं के पास। व्यक्ति ताश के पत्ते खेलता है, तो उसका मन ताश के पत्तों से लग जाता है, जब वह ध्यान में बैठता है, तो मन को कोई सूत्र नहीं मिलता और उसकी तरंगें चारों ओर फैलनी शुरू हो जाती हैं।

एक साधक ध्यान की गहराई में उतरकर चिंतन कर रहा है कि मैंने अपने आत्म-तत्त्व को तो पहचान लिया है, लेकिन इसके भीतर जो चुप्पी साधे बैठा है, वह चैतन्य कौन है? उसी की पुकार भीतर से उठ रही है—अंतस् के आकाश में, चुप बैठा वह कौन? महावीर का पहला आगम है—आचारांग। इसकी शुरुआत होती है—के अहं आसि? मैं कौन था, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ? ध्यान का मूल लक्ष्य यही है कि व्यक्ति बड़ी तन्मयता के साथ गहराई में उतरकर यह प्रश्न स्वयं से करे। इतनी तन्मयता से कि उत्तर भीतर से आए। रटा-रटाया जवाब नहीं कि मेरे भीतर परमात्मा है। गहराई से किया गया प्रश्न तुम्हें मौलिक जवाब देगा कि मैं कौन हूँ?

ध्यान के मार्ग में धैर्य चाहिए, अगर धैर्य खो बैठे, तो समझो सत्य करीब आते-आते हाथ से निकल गया। व्यक्ति अगर अपने जीवन में छोटे-छोटे कृत्यों में भी ध्यान का प्रवेश करा दे, तो इसका परिणाम शुभ ही आएगा। पिछले वर्ष जब जोधपुर में चातुर्मास था, तो एक बहिन ध्यान करने आई। वह बोर्ड परीक्षा की सर्वोच्च वरीयता सूची में आई थी। लोगों ने उससे इस सफलता का राज पूछा कि लाखों परीक्षार्थियों में से आप ही सर्वोच्च कैसे रहीं? क्या आप दिन भर पढ़ा करती थीं? उसने कहा—मैं चौबीस घंटों में से केवल चार घंटे पढ़ती थी, पर जब पढ़ती थी, तो केवल पढ़ती थी। मुझे लगा कि इस बच्ची ने ध्यान के मर्म को समझा है।

जीवन के सारे कृत्यों के प्रति इतनी सजगता, इतनी एकाग्रता, इतना विवेक रखो कि तुम्हारा हर कृत्य अपने आप में ध्यान बन जाए। हमारे प्रमाद के कारण, हमारी असजगता के कारण, हमारे भीतर चलने वाले अचैतन्य

बोध के कारण हम जिंदगी में कृत्य तो करते हैं, लेकिन बेहोशी में। बेहोशी में भोजन बनाते हो, तो उसका परिणाम निकलता है, कभी सब्जी में नमक नहीं और कभी लगता है नमक में ही सब्जी बनाई है। यह सब असजगता का परिणाम है। क्षण-क्षण सजगता, ध्यान की ओर प्रवृत्ति है।

ध्यान का अगला चरण है—मौन। मन को शांत करने की यह सबसे सरल प्रक्रिया है। मौन का अर्थ चुप्पी नहीं है। केवल मुँह बंद रखना भी मौन नहीं है। भीतर के उद्वेग और संवेगों का समाप्त हो जाना मौन है। वाणी की चुप्पी तो व्यावहारिक रूप है। अगर भीतर अंतर्द्वन्द्व जारी है, तो यह वाणी का मौन निरर्थक है। विवेकपूर्ण, सजगता से वाणी का प्रयोग करना मौन का गूढार्थ है। यह मौन का लक्ष्य भी है। अन्तर की सजगता में जब मौन हो तो किसी के कटु शब्द भी आवेग की लहरें नहीं उठा सकते। जब ऐसी स्थिति सध जाये तभी जानना कि तुम वास्तव में मौन हो पाए हो। अन्यथा इधर कंकर गिरा और उधर तालाब में लहरें उठनी शुरू हो गईं। शांति की मौन झील में निस्तरंग हो जाना ही मौन की सजगता का परिणाम है।

साधक कह रहा है—‘गीत शून्य के गा रहा, महागुफा में मौन।’ शून्य क्या है? आज आप वृद्ध हैं, कल आप युवा थे। उससे पहले एक किशोर, एक बालक, एक नवजात शिशु थे। शिशु से पहले माँ के गर्भ में थे और उससे पहले? उससे पहले शून्य रूप थे। चेतना का मूल अस्तित्व शून्यमय होता है। वे जो गीत उठ रहे हैं, वे होंठों से नहीं उठ रहे हैं, देह, तर्क, बुद्धि या ज्ञान-मनीषा से नहीं उठ रहे हैं। वे तो शून्य के गीत हैं, अन्तर के गीत हैं।

जिसने जाना है स्वयं को, वह अपने आत्मज्ञान में ही जीता है। उसकी छाया वह स्वयं है वह चाहे तरुवर की छाँव में बैठा हो या सूरज की धूप में उसकी मुस्कानों में कहाँ अन्तर आता है। तरुवर की छाँव तो शरीर को सुख दे सकती है, किन्तु साधक तो बैठे अपनी ही छाँव में। दिन में सूरज न तपे यह सम्भव ही नहीं है, रात में अंधेरा न धिरे यह मुमकिन ही नहीं है। लेकिन जो रात और दिन, सुख और दुख, अपेक्षा और उपेक्षा, हर परिस्थिति में मुस्कान से भरा रहता है, वह छत की छाँव में नहीं वरन् अपनी छाँव में बैठा है। ऐसे व्यक्ति को तो दूर से ही देखो तो जी हुलसित हो जाता है। उसकी आँखों से खुदा का नूर बरसता है। उसने अनहद अमृत-पान किया है। वह अपनी ही छाँव में, अपने ही आनन्द में आसीन है।

बिन बाजा झंकार उठे, रस गगन गुफा में अमिय झरे। कबीर जब साधना की गहराई में उतरते हैं और साधना की अनुभूति के करीब जाते हैं,

तो भीतर की गुफा में अमृत की बूंदें झरती हैं। बिन बाजा झंकार उठती है और व्यक्ति ध्यान की, साधना की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है।

व्यक्ति इतनी गहराई में उतरा, उसे पहला लाभ यही हुआ कि व्यक्ति की मन की दशाएँ शांत हो गईं। हमारे जीवन की सबसे बड़ी समस्या हमारा मन है। कारण, हम मन को जगा नहीं पाए। और जब व्यक्ति के मन में बिन बाजे के झंकार उठनी शुरू हो गई, अंतस् के आकाश में प्रवेश कर लिया, भीतर में मुस्कान उठ गई, वहाँ उसके जीवन में मन की सारी दशाएँ शांत हो गईं। मन के सारे उद्वेग शांत हो गए। और जब मन शांत हुआ तो आत्मविश्वास जाग्रत होगा। एक ऐसा विश्वास जहाँ सारा जग, सारा अस्तित्व ही अपना हो जाएगा। और जिस अनहद नाद और अमृत की बात कबीर करते हैं, वह हमारे पात्र में भी भरना शुरू हो जाएगा। हमारी चेतना पूर्णता से भर उठेगी और अनंत आकाश का शून्य हमारा अपना शून्य हो जाएगा।

शांत हुई मन की दशा, जगा आत्मविश्वास।

सारा जग अपना हुआ, आँखों भर आकाश।

फिर तो सारा जगत हमारा अपना हो गया, हमारी आँखों में ही समग्र आकाश उतर आया।

आपकी चेतना पूर्णता की ओर बढ़े इसी शुभकामना के साथ—

ओम् शांति—शांति—शांति ।



बाँहों भर संसार

रांका और बांका गृहस्थ संत थे। यूं तो वे पति-पत्नी थे, लेकिन उनका निष्कलुष व्यवहार, निष्काम भाव किसी वैरागी संत के समकक्ष ही था। इतना पवित्र और निर्मल जीवन था उनका। प्रतिदिन प्रातःकाल जंगल में जाते, लकड़ियाँ काटते-बीनते गट्टर बनाकर बाजार में ले जाकर बेच देते। जितना जो कुछ मिल जाता उसी को प्रभु की कृपा, प्रभु का प्रसाद, प्रभु की सौगात मान स्वीकार कर लेते और उसी में जीवन-यापन करते। कभी-कभी तो लकड़ियाँ भी न मिलतीं, कभी बाजार में लकड़ी बिकती भी नहीं और कभी यह स्थिति भी आ जाती कि दोनों को भूखे ही सोना पड़ता, लेकिन इससे उनके आनन्द में कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर कभी वे भूखे रह जाते तब भी वे परमात्मा को धन्यवाद देते कि आज उपवास करने को मिला। रोज ही खाना खा रहे थे, आज तूने उपवास का मौका दिया, तेरा शुक्रिया !

कहते हैं एक दिन रांका और बांका लकड़ियाँ इकट्ठी कर बाजार में बेचने के लिए जा रहे थे। रांका आगे और बांका पीछे थी। दोनों के मध्य काफी फासला था। तभी रांका की नजर मोहरों-भरी चमकती थैली पर पड़ी। वह झुका और उस पर मिट्टी डालने लगा। उसने सोचा कि कहीं बांका इन मोहरों को देखकर ललचा न उठे और घर ले जाने का मन बना ले। वह मिट्टी डाल ही रहा था कि बांका भी आ पहुँची। उसने पूछा—अरे यह क्या कर रहे हो ? रांका बात छिपा न सका। उसने कहा—यहाँ सोने के मोहरों से भरी थैली पड़ी थी, मैंने सोचा, इन्हें देखकर तुम्हारा मन ललचा न जाए इसलिए इन्हें मिट्टी से ढंक रहा था। बांका मुस्कराई और कहने लगी—मैंने सोचा कि तुम बहुत बड़े निस्पृह संत हो, लेकिन लगता नहीं है। अरे मिट्टी को मिट्टी से ढंक रहे

हो ? जानते हो तुम क्या कर रहे हो ? जब तक तुम्हारे अंदर मिट्टी और सोने का भेद कायम है तब तक तुम जीवन की दिव्यता को कैसे पहचान पाओगे ।

पत्नी पति को संदेश दे रही है । कितनी मार्मिक घटना है—करुणापूर्ण भी । मन किसी का चलायमान हुआ और स्थिरता का संदेश किसे मिला । उसने कहा—तुम नहीं देख रहे अंततः मिट्टी को मिट्टी से ढका जा रहा है और तुम्हारी चेतना इसमें मुस्करा रही है ।

आज के सूत्र हमारे जीवन में उठने वाली उन्हीं तरंगों का प्रतिपादन है कि जहाँ सोने और मिट्टी की भेदरेखाएँ शुरू होती हैं, वहाँ से संसार भी शुरू हो जाता है । उसके राग और आसक्ति के सम्बन्ध जुड़ने शुरू हो जाते हैं । मैं और मेरेपन के भाव से यह डोर मजबूत होती जाती है । जहाँ आसक्ति और ममत्व-बुद्धि के तार जुड़ते हैं, वहाँ उसका मन प्रतिबिम्बित होने लगता है । उसके विचार और कर्म उसी ओर गति करते हैं, जहाँ ममत्व-भाव रहता है । एक व्यक्ति जो ध्यान की गहराई में प्रवेश करना चाहता है, उसकी गहराई के द्वार पर भी ममत्व का पहरा रहता है और यह प्रहरी उसे बार-बार संसार में खींच लेता है । कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि व्यक्ति ध्यान के अन्तिम चरण में पहुँच रहा होता है, लेकिन आसक्ति का छिलका उसके पाँव तले आ जाता है और वह फिसलकर शिखर से नीचे की सीढ़ी पर आ गिरता है । वर्षों की साधना एक आसक्ति के कारण विफल हो जाती है । ये आसक्तियाँ किसी भी तरह की हो सकती हैं । तुम्हारे कषाय, राग-द्वेष, ममत्व, क्रोध, मद, मान, माया, लोभ किसी के भी हो सकते हैं । इनमें से एक भी शूल अगर तुम्हें चुभता रहता है, तो जन्मों-जन्मों की साधना के बाद भी तुम वहीं-के-वहीं रह जाओगे । शिखर पर पहुँच कर भी ये शूल तुम्हें शिखर का स्वामी नहीं बनने देंगे । मौका पाते ही धकेलकर साधना व्यर्थ कर देंगे ।

आवश्यकता है जिंदगी में ध्यान को जगाने की । पापड़ को कितने ध्यान से सेंकना होता है, जरा-सा चूके नहीं कि पापड़.....! तुम फिल्म भी कितने ध्यान से देखते हो, कोई थोड़ा-सा शोरगुल मचा दे, तो बेचैन होने लगते हो । यह ध्यान, यह सजगता तो बहिर्मुखी है । इसे अंदर की ओर ले जाओ । इतनी सतर्कता अपने जीवन के प्रति रखो । जगाओ अपनी अन्तस् शक्ति को, अपनी भीतर की ऊर्जा को, तब भीतर की झंकार को सुन सकोगे, भीतर के नाद को सुन सकोगे, वहाँ जो रसधार है उसका पान कर सकोगे । अन्यथा तुम्हारी चेतना जड़ और भौतिक पदार्थों में, संसार और पुद्गलों में इतनी घुलमिल गई है कि तुम्हारे चैतन्य अस्तित्व का तो कुछ पता ही नहीं चलता । हमारी इन्द्रिया बहिर्मुखी हैं और ये इन्द्रियाँ जो ग्रहण करती हैं वही भीतर जाता है । आँखों

से देखते हैं, कानों से सुनते हैं और जिह्वा से रस पाते हैं, नासापुटों से सुगंध लेते हैं, त्वचा से स्पर्श का बोध होता है, लेकिन यदि हम ध्यान में उतर जाएँ और इन्द्रियातीत हो जाएँ, बाह्य इन्द्रियों से परे हो जाएँ तो भीतर क्षण-क्षण वह उन सबका अनुभव करेगा जो इन्द्रियाँ बाहर से देती थीं। बिना किसी इन्द्रिय के सहारे वह भीतर छिपे हुए दृश्य देख सकता है, अन्तर के संगीत को सुन सकता है, अमृत का रसपान कर सकता है। ध्यान के द्वारा यह सब पाया जा सकता है। तुम जिन आकाश सुमनों की बात करते हो, वे सब भीतर विद्यमान हैं, बस वहाँ पहुँचने की जरूरत है। भीतर का विराट आकाश हृदय-सुमन लेकर तुम्हारा स्वागत करने को तत्पर है।

एक बात का स्मरण रखना तुमने जो कर्म-बंधन जन्मों-जन्मों के योग में बांधे हैं उन्हें ध्यान के क्षण काट देते हैं। जब-जब तुम साधना और ध्यान की गहराई में होते हो, तुम्हारे बंधन खुद-ब-खुद टूटते चले जाते हैं। ध्यान की दिव्यता से इन कर्मों को हटाना ऐसे ही है जैसे दर्पण से धूल हटाना। एक दर्पण जिस पर वर्षों की धूल जमी हो, लेकिन कपड़ा फेरते ही वह पुनः चमकने लगता है। ठीक उसी तरह ध्यान का तौलिया चेतना पर जमी संस्कारों की धूल को साफ कर देता है। हमारी मुश्किल यह है कि हम भीतर के दर्पण को पहचान नहीं पाते और बाहर के दर्पणों की सफाई में ही उलझकर रह जाते हैं।

हमारा संसार भी तो दर्पण जितना ही है। जब तक दर्पण सामने हैं तो प्रतिबिम्ब है और दर्पण के सामने से हटते ही चेहरा साफ। ठीक ऐसे ही जैसे दर्पण में दिखाई देने वाला चेहरा झूठा होता है वैसे ही हमारे द्वारा निर्मित संसार भी मिथ्या होता है।

किसी किसान को जब वह खेत में हल चला रहा था, तो कुछ चमकता हुआ-सा प्रतीत हुआ। उसने उस वस्तु को उठाया, मिट्टी साफ की तो वह और चमकने लगा। साफ करके जब वह उसे अपने सामने लाया तो उसमें उसी का चेहरा दिखाई देने लगा। वह समझ न पाया कि वह वस्तु क्या है। उसमें तो उसका ही प्रतिबिम्ब दिख रहा था। यह एक दर्पण था, लेकिन उसने दर्पण क्या होता है, यह न जाना। वह उलटता-पलटता और अपनी ही छवि उसमें पाता। उसने सोचा ओह यह एकदम मेरे जैसा चेहरा, वही आँख, वही नाक, वैसा ही चेहरा, अरे ! मैं समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि यह मेरे पिताजी का चित्र है। उसे याद आया कि लोग-बाग कहते हैं कि वह तो अपने पिताजी जैसा दिखता है। बहुत श्रद्धाभाव से उसने अपने ही प्रतिबिम्ब को पिता का चित्र समझकर प्रणाम किया और जब में रखकर घर ले आया और सबकी नजर बचाकर वह दर्पण तिजोरी में रख दिया।

अब प्रतिदिन वह प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त हो तिजोरी में से दर्पण निकालता, पिताजी के दर्शन करता और पुनः दर्पण को तिजोरी में रख देता। उसकी पत्नी को संदेह हुआ कि यह माजरा क्या है। रोज सुबह-सुबह तिजोरी खुलती है, उसमें से कुछ निकालता है और देखकर वापस रख देता है। अब शक का क्या इलाज। और फिर जब पत्नी शक करे तो हकीम लुकमान भी हथियार डाल देते हैं। अब तो उसे चिंता सताने लगी कि कैसे तिजोरी की चाबी मिले और उस छिपी हुई चीज को देखे। एक दिन वह मौका भी आ गया। किसान चाबी घर में ही भूलकर बाहर चला गया। बस पत्नी ने तुरन्त वह दर्पण निकाला और उसमें देखा ! अपना ही चेहरा देखकर दांत पीसने लगी, अनर्गल बकने लगी—अच्छा तो यह बात है। मेरे से मन भर गया तो मेरे जैसी ही दूसरी तलाश ली है और उसका चित्र तिजोरी में छिपा रखा है। अब इस स्त्री को कौन समझाए कि अगर वह पसन्द नहीं, तो ठीक उसी के जैसी दूसरी स्त्री को क्यों पाना चाहेगा ? अरे जब दूसरी लानी है तो दूसरे तरह की होगी, ज्यादा सुन्दर या कमसिन या.....। कैसी भी हो सकती है, पर उसके जैसी तौबा ! पर क्रोध में विवेक कहाँ ! बस वह दर्पण निकाला और दे पटका जमीन पर। हजार टुकड़ों में तब्दील हो गया वह; दर्पण में कुछ भी न बचा।

तुम्हारा आकर्षण, सम्मोहन तभी तक था जब तक आईना तुम्हारे सामने था। आईने के टूटते ही, हटते ही सब समाप्त हो जाता है। जगत् तुम्हारा प्रतिबिम्ब है, इससे अधिक कुछ नहीं। जब तक तुम यहाँ हो, तुम्हारा प्रतिबिम्ब है, जैसे ही संसार से हटे कि सब साफ हो जाएगा। दर्पण पर से धूल हटी, वह फिर चमकने लगा। जो भी रंग तुम उस पर डालोगे वही प्रतिबिम्बित होगा। नीले से नीला, पीले से पीला, हरे से हरा और लाल होने पर लाल रंग ही लौटकर आएगा। ऐसे ही तुम जिस मनःस्थिति में होते हो, संसार भी उसी मनोदशा में दिखाई देता है। तुम्हारी प्रसन्नता, सुख, आनन्द तुम्हें वापस यहीं लौटाते हैं और क्रोध-आवेश-उन्मत्तता में तुम्हें सभी इसी प्रकार के नजर आते हैं।

आईने के सामने से रंगों को हटा देने से दर्पण बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति को बोध हो जाए कि मेरे साथ सभी सम्बन्ध लौकिक, भौतिक और क्षणिक हैं, वहाँ मेरेपन के भावों में क्षीणता आने लगती है। और वह साधक जो अपने भीतर के आकाश में शून्य और मौन के साथ स्वयं को तलाश रहा है कि मैं कौन हूँ, मेरा अस्तित्व क्या है, मेरे भीतर क्या है ? जब उसका आत्मविश्वास जाग जाता है, मन की दशा शांत हो जाती है, तब उस शिखर से वह सृष्टि को देखता है और तब उसके भीतर से संसार और संसार की भौतिकता के लिए कुछ शब्द उभरते हैं। संबोधि-सूत्र के शब्द हैं—

मेरा-तेरा भाव क्या, जगत् एक विस्तार,
जीवन का सम्मान हो, बाँहों भर संसार।
परम प्रेम पावन-दशा, जीवन के दो फूल,
बिन इनके यह चेतना, जमीं रजत पर धूल।
दृष्टि भले आकाश में, धरती पर हों पाँव,
हर घर में तरुवर फले, घर-घर में हो छाँव।

साधक, जिसने सत्य को पहचान लिया है, जिसने यह प्रतीति कर ली है कि ओ ! बेसुध भागती नदियो ! तुम कहाँ दौड़कर जा रही हो, मुरली के स्वर तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी कल-कल और छल-छल लहरों में ही मुरली की ध्वनि आ रही है। तुम भी जो बाहर की ओर दौड़ लगा रहे हो, काश स्वयं के भीतर देखो, अपने अन्तर के निनाद को सुनने का प्रयास करो। 'मेरा-तेरा भाव क्या जगत् एक विस्तार' मेरे-तेरे का भाव ही संसार का सबसे बाधक तत्त्व है। आधिपत्य की भावना का हास होता है, उसी दिन से सारा जगत् अपना होना शुरू हो जाता है। यहाँ क्या अपना है और क्या पराया ? सब कुछ अपना है या सभी का है। तुम जिन सम्बन्धों की डोर से आज पिता बने हो कल पुत्र भी हो जाओगे। क्या तुम जानते हो हर किसी जन्म में ये सम्बन्ध यथावत् रह पाएंगे, फिर मेरा और तेरा क्या। न तुम किसी के जन्म पर प्रसन्न होते हो और न किसी की मृत्यु पर दुखी होते हो। बहुत गहरे में दूसरे के जन्म की खुशी तुम्हारे अपने जन्म की याद दिला जाती है और तुम प्रसन्नता से भर जाते हो। ठीक इसी तरह किसी की मृत्यु तुम्हारी अपनी मृत्यु की खबर लाती है और तुम दुखी हो जाते हो, व्यथा से भर जाते हो।

संसार में प्रति मिनट नब्बे शिशु जन्म ले रहे हैं, लेकिन तुम कोई खुशी नहीं मनाते, लेकिन मेरेपन का भाव आने पर खुशियाँ स्वतः आ जाती हैं। मेरा बेटा, मेरा पौत्र—बस मेरा। मृत्यु भी मेरेपन का दुःख लाती है—मेरी पत्नी की मृत्यु, मेरे भाई, मेरे पिता का अवसान—यह 'मेरा' दुख ले आता है। आज जो तुम्हारा है कल किसी और का हो जाएगा। तुम्हारी ममत्व बुद्धि तुम्हें निजी स्वार्थों की ओर धकेलती है। बाहर से भले ही ऐसे स्वार्थ दिखाई न दें, लेकिन भीतर सूक्ष्म रूप से कहीं-न-कहीं स्वार्थ सध रहा है। तुम्हारी स्वार्थपरता इतनी गहन है कि तुम इसके लिए कितना भी नीचे गिर सकते हो।

मुझे याद है : एक डॉक्टर ने अपने पुत्र को विदेश में डॉक्टरी पढ़ने के लिए भेजा। छः वर्ष के बाद बेटा डॉक्टर बनकर वापस आया। माता-पिता प्रसन्न हुए। पिता ने सोचा—पुत्र तो डॉक्टर बन गया है, मेरा क्लीनिक सम्भाल लेगा।

चलो मैं कुछ दिन बाहर घूमकर आता हूँ। पुत्र से कहा, बेटा क्लिनिक सम्भालो, मैं बट्टी-कंदार की यात्रा कर आता हूँ। बेटे ने स्वीकृति दे दी। वह क्लिनिक गया। वहाँ जो पहला मरीज मिला वह एक महिला थी, जो बहुत सम्पन्न प्रतीत होती थी और जिसका इलाज उसके पिता पिछले छः वर्षों से कर रहे थे। बेटे ने जाँच की और कहा यह रोग तो छः दिनों में ठीक हो सकता है। उसने सोचा कि इसे शीघ्र स्वस्थ कर दूँ और पिता को बताऊँ कि जिस रोग का इलाज आप पिछले छः सालों से कर रहे थे, उसे मैंने छः दिनों में ही ठीक कर दिया। उसने ऐसा ही किया। वह महिला ठीक हो गई और उसे खूब आशीष दी। बेटा प्रसन्न हो गया। पिताजी भी लौटकर आ गए। उन्हें अपने काम के बारे में बताया कि छः दिनों में ही वह रोगी महिला भली-चंगी हो गई। डॉक्टर पिता ने कहा—मैं चाहता तो उसे तीन दिन में ठीक कर सकता था, लेकिन बता अगर वह तीन दिन में ठीक हो जाती, तो तेरी विदेश में पढ़ाई के लिए पैसा कहाँ से आता।

स्वार्थ में समाया है संसार। यह मेरे-तेरे का भाव जब तक विद्यमान है तुम कभी नहीं जान पाओगे कि जगत् तो उस एक का ही विस्तार है। मेरे-तेरे की संकीर्णता के घेरे से जब तक बाहर नहीं निकलोगे, जगत् के विस्तृत सौन्दर्य को कैसे पहचान पाओगे? संसार की सभी कामनाएँ और वासनाएँ मेरे-तेरे के भाव से ही जुड़ी हुई हैं और जब तक ये सब तुम्हारे साथ हैं, तुम शायद ही कभी उस परम चेतना और परम दिव्यता को उपलब्ध कर पाओ। एक बात और ख्याल रखना तुम जीवन भर भी यदि मेरेपन के भाव तुष्ट करते रहोगे, तब भी यह संतुष्ट होने वाला नहीं है। यह केवल इस ज्ञान के हो जाने पर ही संतुष्ट होगा कि तुमने अभी तक 'मेरा' करके कितना पाया? और अब तक न पा सके तो आगे कैसे पा सकोगे? यह भान हो जाने पर ही तुम मेरेपन के कीचड़ से बाहर आ सकते हो। और यह ज्ञान मिलेगा ध्यान के द्वारा। ध्यान में जब तुम चीजों को देखना शुरू करते हो तो उनकी निरर्थकता साकार होने लगती है।

ध्यान की गहराई में जाकर ही तुम मेरे-तेरे के भाव से मुक्ति पा सकते हो। ध्यान के गौरीशंकर पर बैठा साधक देख रहा है कि जब तक तुम मेरेपन से घिरे रहोगे तब तक साधना की गहराइयों के निकट पहुँचकर भी उस प्रभुता को पाने से वंचित रह जाओगे, जो जीवन का लक्ष्य है। तुम्हारी हालत तो उस व्यक्ति जैसी है जो रात के अंधकार में किसी गड्ढे में गिर जाता है। गिरते-गिरते उसके हाथ में पेड़ की जड़ें आ जाती हैं और रात भर वह जड़ पकड़े हुए खड़ा रहता है कि जड़ें छोड़ीं, तो गड्ढे में गिर जाऊंगा और गड्ढा न

जाने कितना गहरा हो। रात भर पकड़े-पकड़े थक जाता है कि भोर होने लगती है और उसके हाथ जड़ों से छूट जाते हैं। वह पाता है कि जमीन तो सिर्फ आधा फुट नीचे है। लेकिन व्यक्ति जड़ों को पकड़े खड़ा है, पता नहीं कितना गहरा गड़ढा होगा। गिरा तो अंतहीन गड़ढे में चला जाऊंगा। पर वह नहीं जानता कि गड़ढा तो सिर्फ आधा फुट गहरा है, फिर नीचे तो जमीन है।

यह मेरापन जड़ें हैं। इन जड़ों की पकड़ छूटते ही तुम अपने चेतन-तत्त्व, आत्म-तत्त्व के निकट हो जाते हो। मेरे प्रभु, संसार की वस्तुएँ पाने के लिए तो तुम्हें कुछ परिश्रम भी करना पड़ता है, कभी-कभी खोना भी पड़ता है, लेकिन यहाँ तो न परिश्रम करना है और न कुछ खोना है, फिर भी सब मिल जाता है। मैंने तो यही जाना है कि व्यक्ति के निकटतम अगर कोई है तो वह उसकी परम दिव्य चेतना है। यहाँ तक कि बाह्य वस्तुएँ या सांसारिक सम्बन्ध तो दूर हैं ही, तुम्हारा अपना शरीर भी तुमसे एक दूरी पर है। तुम्हारे मन और विचार भी एक दूरी बनाए हुए हैं। सिर्फ परमात्मा और तुम्हारी चेतना एकदम निकट है। निकट ही नहीं, बल्कि एक ही है। ध्यान में इन्हें पाना है। यहाँ खोना कुछ नहीं है, केवल पाना है। सब कुछ मिल जाता है। छोड़ने से जो न छूटा, वह खुद-ब-खुद छूट जाता है। छोड़ना भी नहीं पड़ता। सच पूछो तो छोड़ने जैसा कुछ है भी नहीं। बस, पाने की खोज करो। वह तुम्हारे ही भीतर है। मिट्टी हटे तो निर्झर फूटे।

भगवान बुद्ध के पास एक युवक पहुँचा। पूछने लगा—भगवन्! समाधि में प्रवेश करने से, सिद्धि को पा लेने से आपको क्या मिला। भगवान मुस्कराये और कहने लगे—वत्स, कुछ भी नहीं मिला, तीस वर्षों तक साधना करने के पश्चात् मुझे कुछ नहीं मिला, सिर्फ खोया ही खोया है। युवक चकित रह गया कि ऐसा कैसे हो सकता है भगवन् ! बुद्ध ने समाधान दिया, जिसे मैं खोज रहा था, उसे पाने की जरूरत नहीं थी—वह तो सदा से मेरे भीतर ही विद्यमान थी। और जो खोया है वह हैं मेरी वृत्तियाँ, कषाय-भाव, मन और मन की तरंगें, विचारों की उथल-पुथल—ये सब मैंने खोये हैं।

साधना और समाधि पाने की नहीं, खोने की यात्रा है। जब सब कुछ छूट जाएगा तो वह पा लगे जो सदा से है। घर से बाहर निकलने के लिए देहरी से कदम बाहर कर दो, घर खुद ही छूट जाएगा। इसके लिए किसी आयोजन की आवश्यकता नहीं है। तुम घर में खड़े-खड़े चाहे जितना सोचो कि घर मुझसे पीछे छूट जाए। घर छूटने वाला नहीं। तुमने अपना पाँव आगे बढ़ाया कि घर छूट गया। ध्यान भी दो कदम आगे बढ़ाने की प्रक्रिया है।

अगला चरण है—‘जीवन का सम्मान हो, बाँहों भर संसार’—साधक पूछ रहा है तुम किसका सम्मान कर रहे हो ? धन, पद, परिवार, सम्बन्ध किसका सम्मान कर रहे हो ? एक दौड़ में शामिल हो गए हो। धन का एकत्रीकरण कर रहे हो, सत्ता और सम्पत्ति जमा करना चाहते हो, परिवार की प्रतिष्ठा में लग गए हो, लेकिन खुद की प्रतिष्ठा कब होगी, स्वयं का सम्मान कब होगा ? इन सबके बीच तो तुमने स्वयं को डुबा ही दिया है। साधक कह रहा है, तुम अपने जीवन का सम्मान करो। तब तुम्हारे अन्दर विश्व-बंधुत्व के भाव जाग्रत होंगे और सारा संसार तुम्हारी बाँहों में होगा। जिस दिन जीवन के प्रति स्नेह और सम्मान महसूस होगा, तब यह संसार तुम्हारी बाँहों में सिमट जाएगा। तुम्हारी चेतना में सम्पूर्ण सृष्टि समा जाएगी।

परम प्रेम पावन दशा, जीवन के दो फूल,
बिन इनके यह चेतना, जमीं रजत पर धूल।

जीवन के सिर्फ दो फूल हैं, जिनमें से सुवास उभरकर आ सकती है, एक है परम प्रेम, दूसरा पावन दशा। वे फूल भला किस काम के जिनमें सौन्दर्य तो है पर सुगन्ध नहीं। लेकिन प्रेम और ध्यान से उपलब्ध पावन दशा वह फूल है जिसमें सौन्दर्य भी है और सुगन्ध भी। व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक प्रेम की तरंगों में जीता रहता है। शैशवकाल में तुम्हारा प्रेम माता-पिता और खिलौनों से था। किशोर अवस्था में तुम्हारे प्रेम ने विस्तार लिया। भाई-बहिन, सखा-मित्र, परिवार के, समाज के अन्य सदस्य तुम्हारे प्रेम के दायरे में आने लगे। प्रेम तो यथावत है उसकी तरंगें फैल रही हैं। व्यक्ति की चेतना में प्रेम शाश्वत है, क्योंकि चेतना प्रेम की पर्याय है। निमित्त बदल गए। बचपन से किशोर और किशोर से युवा हो गए, तुम्हारा विवाह हो गया, प्रेम ने और विस्तार पाया। पत्नी की ओर प्रेम बढ़ गया। बच्चे हुए, वे बड़े होने लगे, तुम्हारा प्रेम पत्नी से बच्चों पर आ गया, पौत्र हो गए तो पुत्रों का प्रेम पौत्रों की ओर आ गया। निमित्त बदलते रहे, प्रेम बढ़ता रहा। संसार की भौतिकता में निमित्त बदल जाते हैं, लेकिन मनुष्य की चेतना में प्रेम शाश्वत जमा रहता है। यह तो रागात्मक लगाव था। इसे तुम भले ही प्रेम का नाम दो, लेकिन साधक के लिए तो दिव्य-चेतना से उत्पन्न प्रेम ही परम प्रेम है। इस प्रेम से तुम अपनी प्रमुता को पा सकते हो।

आज जिसे तुम प्रेम कह रहे हो या प्रेम कर रहे हो वह तो सूक्ष्म रूप में चलने वाली वासना है, कोई तृष्णा है। हमारे भीतर उठने वाला सम्मोहन है—इन्हें ही हमने प्रेम की संज्ञा दे दी। यह प्रेम नहीं है। प्रेम तो परमात्मा की

किरण है। इसका विस्तार करना है। तुम्हारा पत्नी के प्रति जो प्रेम है, वह राग है। राग तो पानी का डबरा है और प्रेम बहती हुई नदी। राग बहुत सीमित होता है और प्रेम में है अनंत विस्तार। परम प्रेम, जिसमें वासना की गंध न हो, जिसमें आकांक्षा पूर्ति की कामना न हो, उस प्रेम को उपलब्ध करो।

पावन दशा—जब व्यक्ति ध्यान की अतल गहराइयों में उतरता है तो उसे दूसरा फल मिलता है—पावन दशा का। तुम ऐसे व्यक्ति हो जाते हो जिससे निर्मलता और पवित्रता प्रकट होती है। तुम्हारी अवस्था इतनी सौहार्दपूर्ण हो जाती है, जैसे कोई बालक। बालक जैसी सुकुमारता और निश्छलता तुम्हारे अंदर से झरने लगती है। छोटे बच्चे देखे हैं न, अभी उनके अंदर संसार की कलुषता ने प्रवेश नहीं किया। वे कितने भोले और निर्दोष दिखाई देते हैं। ऐसे ही ध्यान का जब दूसरा फूल खिलता है तुम उस निर्दोष और निश्छल बालक जैसे हो जाते हो। तुम्हारा सारा कल्मष धुल जाता है और तुम पावन दशा को प्राप्त कर लेते हो।

प्रेम और निर्दोषता के बिना तो हमारी स्थिति रजत पर जमी हुई धूल के समान है। संबोधि-सूत्र आगे कह रहा है—'दृष्टि भले आकाश में, धरती पर हो पाँव। हर घर में तरुवर फले, घर-घर में हो छाँव। तुम्हारे लक्ष्य तो ऊँचे होने चाहिए, पर उनमें अहंकार का लेशमात्र भी समावेश न हो। अपनी उपलब्धियों पर गर्व मत करना, वरना तुम जो पाओगे वह भी खो दोगे। इसलिए अपने को जमीन पर ही टिकाए रखना। तुम तो एक दीपक हो जाना, जिसकी किरणें दूर-दूर तक फैलकर रोशनी बांट सकें, अंधकार दूर कर सकें। एक वृक्ष जो तुम अपने आंगन में लगाते हो, उसकी छाया पड़ौसी के घर को भी आवृत्त कर देती है। उसके फल और फूल सबको लुभाते हैं। तुम भी ऐसे ही वृक्ष बन जाना, जिसकी शीतल छाया में सभी आनन्द प्राप्त कर सकें, जिसकी मधुरता से सभी आप्लावित हो सकें। तुम रहोगे तो संसार में ही, पर संसार से निर्लिप्त हो जाओगे, कीचड़ में कमल की तरह पवित्र रहोगे। तुम्हारे प्रेम और पवित्रता की छाया सम्पूर्ण सृष्टि में फैल जायेगी।

आज के सूत्रों का सार यही है कि मेरे और तेरेपन के भाव को तिरोहित कर सम्पूर्ण अस्तित्व में स्वयं का विस्तार करलो। तब तुम्हें परम प्रेम और पावन दशा उपलब्ध हो जाएगी। और तुम्हारी दिव्यता की, प्रभुता की किरणें सभी को आलोकित करेंगी। एक दीपक से अनेक दीपक जल उठेंगे।

□ □

सातों दिन भगवान के

बहुत पुरानी घटना है, फिर भी घिर नवीन मालूम पड़ती है। कहते हैं किसी महल में आग लग गई। महल के सभी व्यक्ति आग से बचने के लिए बाहर की ओर दौड़ पड़े। जिसे जहाँ जो द्वार दिखाई दिया, वह उसमें से बाहर निकल गया, लेकिन एक अंधा व्यक्ति महल में ही रह गया। अग्नि की ऊष्मा से उसे महसूस हुआ कि आग लग गई है। वह भी दीवार टटोल-टटोलकर आगे बढ़ा। एक दरवाजा आया लेकिन वह बंद था। धीरे-धीरे फिर आगे बढ़ा एक और द्वार के समीप पहुँच इधर-उधर हाथ चलाया, पर उसे भी बंद पाया। फिर दीवारों का सहारा लेते हुए जैसे-तैसे तीसरे द्वार के निकट पहुँचा, भाग्य से यह दरवाजा खुला था। वह अंदर जाता इसके पहले उसके सिर में तीव्र खुजली उठी। वह सिर खुजाते-खुजाते आगे बढ़ गया और खुला हुआ द्वार पीछे रह गया। अब तो वह अग्नि से घिर चुका था। लपटों की तीव्रता भी महसूस कर रहा था, पर क्या करे चारों ओर से अंगारे भी गिरने लगे और वह महल से कभी नहीं निकल सका।

जरा दृष्टिपात करें कि क्या ऐसी ही घटनाएँ हमारे साथ रोज-रोज नहीं घट रही है। हम भी इन्हीं स्थितियों से घिरे हुए नहीं हैं ? और जब अवसर आता है बाहर निकलने का, मुक्त होने का, हम भी सिर खुजाते ही रह जाते हैं और अन्ततः हमारी स्थिति उस अंधे के समान हो जाती है। जब भी बंद दरवाजे हमारे सामने आते हैं हम उन्हें तो टटोलते रहते हैं, मार्ग भी खोजते रहते हैं, लेकिन जैसे ही किसी खुले द्वार के निकट पहुँचते हैं संसार का कांटा पाँव में चुभ जाता है और इस कांटे को निकालने में जो समय लगता है तब तक द्वार पीछे चला जाता है। तुम पूजा-पाठ करते हो, सत्संग में जाते

हो, प्रवचन सुनते हो, स्वाध्याय करते हो, सब इसीलिए कि किसी तरह वह द्वार खुल जाए, लेकिन जब उस द्वार के निकट पहुँचने को होते हो कि संसार की खुजली वापस लौटा देती है। तुम्हारे जीवन में मुक्ति दरवाजे तो कितनी ही बार आते हैं, कितने ही रूपों में आते हैं, लेकिन संसार के कांटे, संसार की खुजली, संसार के सम्बन्ध उन द्वारों से आगे बढ़ा देते हैं और तुम अवसर चूक जाते हो।

चाहे तुम कहते रहो कि तुम्हें मार्ग की तलाश है, जिंदगी के द्वार की तलाश है, जीवन के रास्तों की तलाश है, लेकिन जब भी मार्ग सामने आता है तुम आँखें बंद कर लेते हो। मुझे याद है, एक बार मैं किसी दुकान के सामने से निकल रहा था। दुकानदार ने मुझे आमंत्रित किया। उसने धर्म-चर्चा की और चर्चा के दौरान कहा कि महाराजजी ! मैं भी स्वर्ग देखना चाहता हूँ, क्या मैं मुक्ति के द्वार पर जा सकता हूँ, मेरी तीव्र अभीप्सा है पर क्या मैं परमात्मा के दर्शन कर सकता हूँ। मैंने कहा कि बिल्कुल तुम यह सब अभी कर सकते हो क्योंकि मैं स्वर्ग ही जा रहा हूँ, तुम भी मेरे साथ चलो, अभी मुक्ति के द्वार और परमात्मा के दर्शन करवा सकता हूँ। बस उठो और चल पड़ो। पता है उस व्यक्ति ने क्या कहा ? कहने लगा प्रभु, अभी तो व्यस्त हूँ, आधा घंटा रुक जाइए फिर चलता हूँ, अभी तो मेरी ग्राहकी चल रही है, बेटा दुकान पर आ जाए, उसे सब समझा दूँ, सम्भला दूँ, तब चलता हूँ। ऐसा ही होता है। छलांग लगाने की हिम्मत हमारे पास नहीं है। तुम्हारे जीवन में बहुत से अवसर आते हैं लेकिन तुम उन्हें छोड़ते चले जाते हो।

ऐसे अवसर आते हैं जब किसी का सत्संग पाते-पाते, किसी का सामीप्य मिलते-मिलते, तुम्हारा अन्तरसौन्दर्य जाग उठा था, तुम्हें लगा कि अभीप्सा जाग रही है, अन्तश्चेतना की तलाश के भाव उठे, लेकिन तुम यहाँ से उठे, बाहर गए और आँखें बंद कर लीं। द्वार सामने आया और तुम आँख बंद कर निकल गए वापस संसार में ! तुम चर्चा में भी मशगूल हुए। जो सुना उसकी गूढ़ता भी पहचानी, कहीं कोई चोट भी पड़ी, लेकिन घर तक पहुँचते-पहुँचते सब अर्थ अनर्थ हो गए। कोई सार्थकता नहीं रह गई। मार्ग आया और तुम विस्मृत कर गए। मैं जानता हूँ कि मनुष्य अज्ञानी नहीं है। वह सब जान रहा है, देख रहा है, फिर भी उपेक्षा कर रहा है। जानबूझकर अज्ञानी और अबोध बन रहे हो। वह जान रहा है कि उसके जीवन का श्रेयस्कर मार्ग, कल्याणकारी मार्ग कौनसा है, फिर भी उन्हें छू नहीं रहा। उन पर चलने का प्रयास नहीं कर रहा। जब भी किसी तीर्थंकर ने, बुद्ध ने या सद्गुरु ने हमारा हाथ पकड़कर मार्ग दिखाना

चाहा, हमने अपना हाथ खींच लिया। यह हमारी प्रवृत्ति रही है कि जीवित संत को कभी नहीं पहचाना, बाद में चाहे मूर्तियाँ बनाकर पूजते रहे हों।

तुम्हारी चाहना थी कि कोई सदगुरु मिले, किसी महापुरुष का सामीप्य मिले, हाथ को हाथ का सहारा मिले तो आगे बढ़ जाऊँ और जैसे ही सहारा देने के लिए किसी सदगुरु ने अपना हाथ आगे बढ़ाया तो तुम साथ चलने को राजी न हुए। सौभाग्य से कोई साथ चला और सदगुरु ने दिखाया कि चाँद उधर है तो तुम्हारी नजरें चाँद तक नहीं पहुँची। वे अंगुली पर ही अटक कर रह गईं। और परिणाम यह निकला कि तुम ध्यान की उस परम-दशा को उपलब्ध नहीं कर पाए। साधना के मार्ग पर चलकर भी पूर्णता नहीं पा सके, क्योंकि संसार का कांटा गड़ता ही रहा। मेरे प्रभु, ध्यान भीतर का द्वार है और धन बाहर का द्वार है। धन और ध्यान में यही अन्तर है कि धन सदा बाहर का द्वार, बाहर के साधन, बाहर के निमित्त देगा और ध्यान भीतर की गहराइयाँ, भीतर की ऊँचाइयाँ देगा। कल मेरा एक सज्जन से मिलना हुआ, बातों-बातों में मैंने उससे कहा, आप तो बहुत सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति मालूम होते हैं। उसने जो कुछ उत्तर में कहा वह बहुत मार्मिक और चिन्तनीय है। उसने कहा कि आप तो संन्यासी हैं, आप नहीं जानते यह सब बाहर की सम्पन्नता है, आन्तरिक रूप से तो मैं अत्यन्त विपन्न हूँ। मैं तो आपकी आन्तरिक सम्पन्नता से चमत्कृत हूँ। आपकी भीतर की सम्पन्नता ने ही मेरी बाहरी सम्पन्नता में छिपी सम्पन्नता का बोध कराया है। मेरा यह बाहर का धन मुझे वास्तविक धन तो नहीं दिला सकता।

मनुष्य को जीवन-यापन के लिए सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता है, लेकिन उसकी आकाक्षाएँ असीम हैं। फिर आकाक्षाएँ उसे बाह्य रूप से तो सम्पन्न बना देती है, लेकिन आन्तरिक विपन्नता उसी तुलना में बढ़ती जाती है। स्वयं को रूपांतरित करो। अब धन के द्वार से ध्यान के द्वार की ओर छलांग लगाओ। ध्यान में डुबकी लगाओ, तब तुम अपने अंदर की एक-एक अंधेरी सुरंग को पार करते हुए उस अन्तःस्थल तक पहुँच जाओगे, उस नाभिकेन्द्र के मध्य बिंदु तक पहुँच जाओगे जहाँ से जीवन में ऊर्जा का संचरण होता है। उस केन्द्र तक पहुँचोगे जहाँ ऊर्जा शक्ति मिलती है। जहाँ से चेतना जाग रही है, वहाँ तक तुम्हारा प्रवेश हो जाएगा। ध्यान तुम्हें वहाँ ले जाएगा, जहाँ जीवन के अर्थ प्रारम्भ होते हैं। धन की लोलुपता मिटने से ध्यान का द्वार खुलता है।

मैंने तो पाया है कि संसार मनुष्य की आदत है। जैसे उसे राग, लोभ, क्रोध करने की आदत है वैसे ही संसार भी आदत है। बचपन से वृद्ध हो जाने तक भी वह अपनी आदतों को नहीं छोड़ पाता। बचपन से पचपन तक उसका जीवन अपनी ही आदतों से घिरा रहता है। जीवन के प्रति सजगता का अभाव आदतों को जन्म देता है। मैं देखा करता हूँ लोग बैठे हैं; कोई पैर हिला रहा है, कोई अंगुलियाँ चटका रहा है, कुछ नहीं तो कागज को फाड़ रहा है या मरोड़ रहा है यानी कुछ-न-कुछ करते रहना आदत में मशगूल है। और ये आदतें सिर्फ सजगता का अभाव हैं। तुम्हें पता ही नहीं चलता कि तुम क्या किये जा रहे हो। तुमने देखा होगा सड़क पर चलते हुए तुम्हारे हाथ भी आगे-पीछे जाते रहते हैं। पाँव तो अपना काम कर रहे हैं पर हाथ ! उन्हें चलाने की क्या जरूरत ? पर नहीं, चल रहे हैं, एक आदत ! वह आदत जो दस करोड़ वर्ष पूर्व की है जब हाथ और पाँव दोनों से चला करते थे—चौपायों की तरह। मनुष्य ने विकास तो कर लिया पर आदत, वह नहीं छूटती। यह संसार की गहरी आदत है हमारी। हमारी जिंदगी आदतों का ढेर बन गई है। मनुष्य की जिंदगी सिर्फ आदत रह गई है। और इन आदतों के रहते व्यक्ति का बोध, उसकी चेतना, उसकी गहरी भावनाएँ सब हाशिए पर चली गई हैं।

ध्यान के लिए विशेष त्वरा चाहिए, ध्यान के लिए विशेष शक्ति चाहिए, ध्यान के लिए बाहर की आदतों से मुक्ति और छुटकारा चाहिए। अगर तुम ध्यान में प्रवेश करना चाहते हो तो सबसे पहले अपनी बाहर की आदतों से मुक्त हो जाओ। अन्यथा ध्यान करने बैठ तो जाओगे, पर उसमें कभी दुकान, कभी मकान, कभी पति, कभी पत्नी, कभी व्यवसाय, कहने का तात्पर्य कि बाहर ही उलझे रह जाओगे। ध्यान में भी यही सब स्मरण आता रहेगा और स्वयं के ध्यान से अछूते रह जाओगे।

मुझे याद है : पाँच-छः वर्ष पूर्व हम लोग माउण्ट आबू में थे। इटली का एक जोड़ा आबू के भ्रमणार्थ आया। उनके साथ जो गाइड था वह उन्हें हमारे पास ले आया। उन लोगों ने हमसे बातचीत की ध्यान विषयक। और ध्यान में रुचि जाहिर की। हमसे पूछा; क्या आप लोग ध्यान करते हैं। उन्होंने हाँ कहा। तब हमने पूछा कैसे, तो बताया—बात दरअसल यह है कि हम दोनों पति-पत्नी अलग-अलग शहरों में नौकरी करते हैं और प्रातः रोज एक साथ, एक समय ध्यान करते हैं। हमने कहा—यह तो बहुत अच्छी बात है, पर आप लोग किस प्रकार का ध्यान करते हैं, ध्यान में क्या चिंतन करते हो। बेचारे

भोले-भाले प्राणी ! तुम तो अध्यात्म और ज्ञान के पंडित हो चुके हो। अनुभव कुछ नहीं, लेकिन पुस्तकीय ज्ञान से घंटों प्रवचन जरूर दे सकते हो। पूछने पर झूठ भी बोल सकते हो, लेकिन जिसने पहली बार अध्यात्म के द्वार पर दस्तक दी हो वह भला झूठ कैसे बोल सकता है। कहने लगे—महाराजजी, ध्यान में हम एक-दूसरे का चिंतन करते हैं। सप्ताह में एक बार मिल पाते हैं—दो सौ किलोमीटर की दूरी है।

तुम ध्यान भी करोगे, तो इसी प्रकार। पति-पत्नी का ध्यान कर रहा है, पत्नी-पति का ध्यान कर रही है। बहुधा ऐसा होता है कि व्यक्ति गहरी एकाग्रता में चला जाता है। तुम जब रोकड़े गिनते हो और तुम्हें आवाजें दी जाएँ तो क्या तुम सुन पाते हो ? लेकिन इसे ध्यान की एकाग्रता नहीं कहा जाएगा। एकाग्रता अवश्य है, पर ध्यान नहीं। ध्यान तो मनुष्य के भीतर के द्वार का उद्घाटन है, लेकिन ध्यान में उतरकर यदि अन्तस् के द्वार पर दस्तक न दे पाए तो ध्यान का क्या लाभ ! तुम आधा घंटे एक ही मुद्रा में निश्चल बैठे रहे, लेकिन मन की तरंगें यथावत् चलती रहीं, बाहर से शांत और अंदर से उद्विग्न होते रहे, तो भीतर कैसे पहुँच पाओगे ? तुम्हारी ऊर्जा तो इन उद्वेगों को परास्त करने में ही लग जाएगी। तुम वर्षों से धर्म और कर्म कर रहे हो, लेकिन क्या तुमने हल्का-सा भी चेतना का स्पर्श पाया है ? क्या तुम कभी आत्मा को छू पाए ? क्या तुम सुख और दुख की घड़ी में ध्यान में रहकर भीतर के आनन्द को उपलब्ध कर पाए ? नहीं कर पाए। करना चाहोगे ?

अपने घर में एक प्यारा-सा ध्यान-कक्ष बनवाओ। प्रायः सभी लोग एक छोटा-सा कक्ष भगवान के लिए बनवाते हैं। भगवान के साथ-साथ ध्यान के लिए भी एक कक्ष बनवाओ। और प्रतिदिन उस कक्ष में बैठकर ध्यान धरने की कोशिश करो। कभी तो स्वयं में उतर ही जाओगे। और जब प्रतिदिन एक ही स्थान पर बैठकर ध्यान करते हो, तो कुछ अरसे में वह स्थान इतना ऊर्जस्वित, इतना चेतनामय और इतना जीवन्त हो जाएगा कि कभी कोई दूसरा व्यक्ति जो ध्यान नहीं कर रहा, वह भी वहाँ एक विशिष्ट प्रकार की तरंगों को महसूस कर पाएगा। भयंकर अशान्त व्यक्ति भी उस स्थान पर जाकर परम शांति का अनुभव करेगा। इस बात को विज्ञान ने भी प्रमाणित किया है। महावीर जिसे लेश्या कहते हैं वह मनुष्य के विचारों से उद्भूत आभामण्डल ही है। जैसे विचार होते हैं, वैसे ही आभामण्डल अपने रंग बदलता है। महावीर कहते हैं कि जब व्यक्ति अनुचित और कषाय के विचारों में होता है तब उसके कृष्ण लेश्या होती है, उसका आभामण्डल काले रंग का होता है। और जब व्यक्ति उज्ज्वल विचारों

में होता है, उसका आभामण्डल क्रमशः शुक्ल लेश्या तक पहुँचता है। जैसे-जैसे विचारों में रूपांतरण होता है, व्यक्ति का आभामण्डल प्रभावित होता रहता है। मनुष्य तो प्रभावित होता ही है, वनस्पति भी अप्रभावित नहीं रह पाती। यदि तुम प्रेम और अनुराग से भरकर पौधों के पास जाओ तो उनका विकास त्वरित गति से होता है और क्रोधित मन से, उन्हें काटने के भाव से पौधों के पास जाओ तो उनकी कोशिकाएँ सिकुड़ जाती हैं। वे भी भयभीत हो जाते हैं, कुम्हलाने और काँपने लगते हैं। विज्ञान कहता है हमारी वाणी की तरंगें ही नहीं, विचारों की तरंगें भी सृष्टि में फैलती हैं। इसलिए जब आप ध्यान की गहराई में प्रवेश करेंगे तो वह कक्ष भी ध्यान से आच्छादित हो जाएगा।

आपने कभी ख्याल किया कि संतगण हिमालय की गुफाओं में ध्यान-साधना क्यों करते हैं। वे गुफाएँ ध्यान की ऊर्जा से इतनी पूंजीभूत हो चुकी हैं कि वहाँ प्रवेश करते ही परम शांति का अनुभव होता है। आपके तीव्र विचारों का शमन हो जाता है, आप नई अनेरी ऊर्जा का अनुभव करते हैं। क्यों ? इसलिए कि वहाँ हजारों वर्षों से इतने ऋषि-मुनियों ने साधना की है, कि उनकी ऊर्जा वहाँ घनीभूत हो चुकी है। वहाँ के कण-कण में चेतना की तरंग तरंगित होती है। और जब आप वहाँ प्रवेश करते हैं तब वहाँ के सूक्ष्म परमाणु आपको आंदोलित कर देते हैं। आज विज्ञान ने जितनी तरक्की की है, उससे आप ध्वनि-निरोधक कक्ष का निर्माण कर सकते हैं, जिसमें बाहर की कोई भी आवाज प्रवेश न कर सके, वह कक्ष शांत तो होगा, पर ऊर्जामय और चेतना की सघनता को साथ लिए न होगा। और हिमालय की गुफाएँ, वहाँ ऊर्जा का, चेतना का जीवंत संचरण होता है। इसलिए अपने घर में एक ध्यान-कक्ष अवश्य बनवाना और वहाँ प्रतिदिन सुबह और शाम नियमित रूप से ध्यान करना। ध्यान में कुछ नहीं करना है। बस, अपनी चेतना को निहारना है, अपनी दिव्यता को परखना है और भीतर के अंधकार में जो प्रकाश की किरण छिपी हुई है, उसे पहचानना है। पहली बार जब हम भीतर झाँकते हैं तो गहन अंधकार ही नजर आएगा, लेकिन जितना घना अंधेरा होगा, प्रकाश भी उतनी ही जल्दी अवतरित होगा। जितनी गहरी रात होती है, भोर उतनी ही सुहानी होती है। ध्यान का इतना ही ध्येय है कि तुम मन से मुक्त हो जाओ, विचारों से मुक्त हो जाओ, देह-भाव से मुक्त हो जाओ और जब इन तीनों से मुक्त हो जाओगे, वही घड़ी चेतना के निजानंद स्वरूप में लीन होने की घड़ी होगी।

संबोधि-सूत्र की गहराई में उतरने का अर्थ यही है कि व्यक्ति अपने जीवन के अज्ञान को पहचाने, जीवन की अच्छाइयों को और बुराइयों को पहचाने

और निर्विकल्प होकर ध्यान की गहराइयों में प्रवेश करे। अब हम संबोधि-सूत्र के अगले चरण की ओर बढ़ते हैं जहाँ साधक अपनी दिव्य चेतना को उपलब्ध करने के पश्चात् दुनिया को संदेश दे रहा है—

मंदिर का घंटा बजे, खुले सभी की आँख,
दिव्य ज्ञान के 'सबद' दो, मिले पढ़न हर सांझ।
शुभ करनी हर दिन करें, टले न कल पर काम,
सातों दिन भगवान के, फिर कैसा आराम।
साधु नहीं, पर साधुता, पा सकता इंसान,
पंक बीच पंकज खिले, हो अपनी पहचान।

जीवन की बहुत प्यारी और सुन्दर बातें हैं ये। 'मंदिर का घंटा बजे, खुले सभी की आँख'—अपने जीवन को ऐसी व्यवस्था दो कि प्रभात काल हो और जब आप जगें तो घंटनाद के स्वर आपको सुनाई दें। मंदिर की पवित्रता प्रभात के साथ आपके जीवन में प्रवेश करे। यदि आपके आसपास मंदिर न भी हो तो भी उठने के साथ ही यह अनुभूति करो कि तुम्हारी चेतना को जगाने के लिए नाद हो रहा है और निरंतर अनुभूति करते रहने पर सुबह जागने की वेला आएगी। वह नाद गुंजित होने लगेगा। और तुम आँखें खोलने पर विवश हो जाओगे, तुम्हारा अन्तर्नाद तुम्हें आंदोलित करेगा। लेकिन आज जो मैं स्थिति देख रहा हूँ, बड़ी विचित्र है। सुबह नौ बजे तक तो आँख ही नहीं खुलती। मुझे लगता है शास्त्रों में वर्णित निशाचरों वाली स्थिति आ रही है। रात में काम, खाना-पीना और दिन में सोना, आराम करना। देर रात तक टीवी, फिल्में देखना और सुबह देर तक सोए रहना। कहाँ के घंटनाद और कहाँ की मधुर ध्वनियाँ ! मनुष्य सब भूलता जा रहा है धीरे-धीरे और उसके परिणाम भी भुगत रहा है। यह सब विकृत व्यवस्थाओं के परिणाम हैं। लगता है हमारे अध्यात्म के जो नाद थे, अध्यात्म के जो दिव्य-संदेश थे, वे तो हमारे हाथ से छिटक ही गए हैं। वे दिन भी व्यतीत हो गए प्रतीत होते हैं, जब लोग ब्रह्ममुहूर्त में उठा करते थे और आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त हो परमात्मा के भजन में लीन हो जाया करते थे।

साधक कह रहा है कि जीवन में इतनी पावनता हो कि जैसे ही मंदिर का घंटनाद हो, हमारी आँखें खुलें या आँखें खुलते ही हमें घंटनाद सुनाई दे जो हमारी चेतना को जाग्रत करे। दिव्य ज्ञान के 'सबद' दो, मिले पढ़न हर सांझ। जैसे ही सुबह आँख खुले और मंदिर का घंटनाद सुनाई दे उसी तरह सांझ ऐसी हो कि सोने से पहले दिव्य शब्द कानों में आ जाए। यह जो

सातों दिन भगवान के :: 25

संध्याकालीन प्रवचन हो रहे हैं, इनका गहरा रहस्य है। सुबह तो तुम प्रवचन सुनते हो और जैसे कपड़े झाड़ते हो उन शब्दों को भी सभास्थल पर झाड़कर चले जाते हो और अपनी दुकानदारी में व्यस्त हो जाते हो। लेकिन सांझ को ऐसा नहीं कर पाओगे। यहाँ से जाओगे, तो जो सुना है वह भी साथ लेकर जाओगे, उस पर चिंतन-मनन भी करोगे। सोते समय भी तुम्हें ये शब्द याद आते रहेंगे। तुम विस्मृत न कर पाओगे और जब स्वप्न आएंगे तब भी यही विचारधारा चलती रहेगी। बार-बार लौटकर तुम यही दोहराओगे और तुम्हारे जीवन में रूपांतरण की पहली घटना घटेगी। दो शब्द दिव्यता के जो सुनाई दे गए, जीवन में कायाकल्प ला देंगे। 'मिले पढ़न हर सांझ'। सांझ अर्थात् संध्या। संध्या चौबीस घंटे में चेतना के लिए सबसे पावनतम वेला है। संध्या का अर्थ है—जिस समय सम अर्थात् सम्यक्, ध्या यानी ध्यान किया जा सके। वह पावन वेला, वह शीतल वेला, वह मनोनुकूल वेला जिस समय व्यक्ति सम्यक् ध्यान में उतर सके वही संध्या। सांझ को तुम अपनी बाहर फैली हुई प्रवृत्तियों को समेट लो और ध्यान में उतर जाओ। तुमने देखा होगा संध्या होते ही पक्षी अपनी बाह्यता को सिकोड़कर अपने नीड़ में वापस लौट आता है। अब सांझ हो गई तुम भी अपने नीड़, अपनी चेतना में लौट आओ। दिन भर तुम प्रवृत्तियों में रहे, संसार की उठापटक में लगे रहे, लेकिन अब सांझ की वेला आ गई है अपने सम्यक् ध्यान में उतर जाओ। ऐ मेरे वत्स ! अपने पंख समेट लो, स्वयं में लौट आओ। इस समय को प्रभुता का प्रसाद समझना कि तुम दिव्यता का चिंतन करते हुए सोओगे। जीवन की यही धन्यता होगी कि प्रातः आँख खुले तो मंदिर का घंटा सुनाई दे और चेतना जागे और सांझ आई तो दिव्य ज्ञान के दो 'सबद' सुनने को मिल गए। सुबह उठते ही सुकून, रात को सोते हुए भी सुकून।

अगला पद है—

शुभ करनी हर दिन करें, टले न कल पर काम।

सातों दिन भगवान के, फिर कैसा आराम।।

मनुष्य की प्रवृत्ति है कि ऐसा काम जिसमें उसे किसी भी प्रकार का लाभ मिल रहा हो तुरन्त करना चाहता है। लेकिन कोई श्रेयस्कर कार्य, जिससे जीवन का रूपांतरण होने वाला हो वह कल पर टालता चला जाता है। उसके लिए तो मुहूर्तों की तलाश की जाती है। प्राचीन काल में जब कोई सम्राट संतों के दर्शन को जाता और वैराग्य की भावना जाहिर करता तो संत उसे कहते इसे कल पर मत टालो। उनके उपदेश से वे वैराग्य धारण कर लेते और आज

अगर तुम्हारे मन में ऐसा कोई भाव जग भी जाए तो तुम बहाने ढूँढ़ने लगते हो और वापस संसार में लौट जाते हो। हर शुभ कार्य को कल पर टाल देते हो और वह कल 'आज' तक कभी नहीं आ पाता। इसलिए हर अच्छे काम को आज करने की कोशिश करें और हर बुरे काम को कल पर टालो। बुराई को जितना टालते रहोगे, उतना ही लाभ है और अच्छाई को जितना नजदीक लाओगे, उसमें लाभ है। यह नहीं कहा कि 'करनी' हर दिन करो बल्कि 'शुभ करनी'। वे पावन कृत्य प्रतिदिन करो जिनके करने से तुम्हारी चेतना पवित्र और निर्मल हो जाए।

'सातों दिन भगवान के फिर कैसा आराम'—चाहे तेरस हो या तीज—दिन में कभी फर्क नहीं होता है। फिर किस बात का विश्राम ले रहे हो। लेकिन नहीं, हमारा आलस्य, हमारा प्रमाद इतना अधिक है कि हमने भगवान का नाम लेना भी छोड़ दिया है। लोग मिलेंगे और बातचीत करेंगे अपनी व्यस्तता की, लेकिन मैं जानता हूँ जिनके पास कुछ काम ही नहीं है वे भी अपने को व्यस्त बनाए रखने का आडम्बर रचेंगे। ऐसे-ऐसे काम करेंगे जिनका कोई अर्थ नहीं है फिर भी व्यस्त नजर आने के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही है।

सूत्र का पहला सबक है भीतर में रहने वाले आलस्य को अप्रमत्तता में बदलने की कोशिश करो। मुझे याद है : एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को पत्र दिया और कहा भैया, तू जी.पी.ओ. की ओर जा रहा है इस पत्र को पोस्ट कर देना। पन्द्रह दिन बाद उन दोनों का फिर से मिलना हुआ और उसने अनायास पूछ लिया क्यों भाई पत्र तो पोस्ट कर दिया था न। वह कहने लगा—कमाल के आदमी हो अगर इतनी ही जल्दी है तो लो खुद ही डाल लेना। पन्द्रह दिन बाद भी !

इसलिए कहा कि आलस्य त्यागें। प्रतिदिन प्रातःकाल संकल्प लो कि आज कोई न कोई अच्छा काम करेंगे। एक संकल्प रोज लो और उसे प्राणपण से पूर्ण करो। रोज कोई न कोई शुभ कार्य करने का प्रयास करो। रोज का एक शुभ काम तुम्हारे लिए अक्षय सागर बन जाएगा। लेकिन हो सब उलटा रहा है। तुम उपवास कर लेते हो तो रात भर नींद नहीं आती। कल सुबह क्या खाओगे, क्या पीओगे, इसके विचार चलने लगते हैं। सुबह तो हुई नहीं और खाने के विचार आने शुरू हो जाते हैं। विचारों की चंचलता मनुष्य की चेतनागत दुर्बलता है। मानव मन की दुर्बलता है। सुबह उठते ही अगर संसार की आकांक्षाएँ, संसार की कामनाएँ और वासनाएँ मंडराने लगती हैं तो इसका अर्थ है कि तुम मानसिक रूप से विक्षिप्तता की ओर बढ़ रहे हो। तुम्हारी चेतना और विचार

विक्षिप्त हैं। सधे हुए व्यक्तित्व की पहचान है कि जब वह जो कार्य कर रहा है उसके विचार उसी से जुड़े रहें। अगर तुम दुकान में बैठे हो तो मंदिर की स्मृति नहीं आनी चाहिए और मंदिर में हो तो वहाँ दुकानदारी मत चलाओ। जहाँ हो बस वहीं पूर्ण रूप से रहो।

‘सातों दिन भगवान के’ शुभ कार्यों के लिए मुहूर्त मत तलाशो। मंगलवार और बुधवार में, शनिवार और रविवार में भेद मत करो। सारे दिन भगवान के हैं। जब जो कार्य करने का भाव उठ जाये, उस कार्य को करने का वही शुभ मुहूर्त है। शुभ आज, अशुभ कल, यही इस सूत्र का सार है।

अन्तिम पंक्तियाँ—

साधु नहीं पर साधुता, पा सकता इन्सान,
पंक बीच पंकज खिले, हो अपनी पहचान।

इन पंक्तियों से ऐसा लगता है कि जैसे साधक ने मंथन करके अमृत हमारे हाथ में थमा दिया हो। हर व्यक्ति साधु नहीं बन सकता, पर साधुता तो पा सकता है। वेश नहीं बदल सकता पर जीवन तो बदल सकता है। कपड़े नहीं बदल सकता, पर मन और विचारों को तो बदल सकता है। जिस स्थिति में हो वहाँ कुछ भी छोड़ने की जरूरत नहीं है। बस, अपनी अन्तर्धारा बदल लो, सब कुछ बदल जाएगा। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदल ही गई। बाहर जाती हुई चेतना को भीतर लौटा लो, साधुता आ ही जाएगी। इतना भी कर पाए तो ध्यान की सीढ़ी पर पहला कदम बढ़ जाएगा। तुम साधु न बन पाए तो साधुता तो उपार्जित कर ही ली। ‘पंक बीच पंकज खिले, हो अपनी पहचान।’ पंक में दो चीजें उत्पन्न होती हैं—एक कमल, दूसरा कीड़ा। संसारी और ध्यान में जीने वाले के बीच यही फर्क है। जो संसार में है वह कीड़े की तरह संसार (कीचड़) में धंसता चला जाता है और जो इससे उपरत हो जाता है, विकसित होता जाता है, ऊपर उठता जाता है वह कमल की तरह खिल जाता है। कीचड़ से बाहर आ जाता है। ध्यान में उतरा हुआ व्यक्ति कमल जैसा है जो संसार में रहकर भी संसार से बाहर है। और जो संसार से बाहर हो गया वही स्वयं को पहचान सकता है। अपनी चेतना के दिव्य स्वरूप को जान सकता है। अपनी पहचान हो जाएगी, आत्मा से संवाद होगा।

आप प्रतिदिन शुभ कार्य करने का संकल्प लें और साधुता को उपलब्ध हो सकें, इसी शुभकामना के साथ।

ओम् शांति, शांति, शांति।



काया मुरली बाँस की

जापान में कई सौ वर्ष पूर्व एक ज्ञान फकीर ने विराट आश्रम बनवाया। आश्रम इतना सुन्दर था कि पूरे जापान में उसकी चर्चा थी। क्योंकि वैसा सुन्दर आश्रम दूसरा न था। सम्राट ने भी उस आश्रम के बारे में सुना। उसने सोचा जब आश्रम इतना खूबसूरत है तो अवश्य ही उसे देखना चाहिए। एक दिन सम्राट आश्रम में पहुँच गया। फकीर के शिष्यों ने सम्राट का स्वागत किया। सम्राट को साथ लेकर फकीर ने आश्रम के एक-एक भवन का, एक-एक कक्ष का दिग्दर्शन करवाया। उन्हें बताया गया कि आगन्तुकों के लिए अलग व्यवस्था है, रोगियों के लिए चिकित्सालय है, यहाँ पुस्तकालय है, यह भोजन कक्ष है, यह विश्रामालय है। और भी जो-जो वहाँ था, सबकी जानकारी सम्राट को दी गई। फकीर जब सम्राट को यह सब बता रहे थे तो सम्राट की नजर वहाँ बीचो-बीच बने हुए एक विशाल कक्ष पर ठहर गई। सम्राट को उसके बारे में जानने की उत्सुकता हुई। बीच में एक-दो बार फकीर से पूछा भी, लेकिन फकीर जैसे सम्राट की बात सुन ही नहीं पा रहा था। वह तो अपने ही ढंग से आश्रम की व्यवस्थाओं का, भवनों का, उद्यानों का, झरनों का परिचय कराये चला जा रहा था। अब सम्राट बार-बार पूछने लगा, इस भवन में क्या करते हैं।

फकीर था कि जवाब ही न दे। अब तो सम्राट भी उत्तेजित होने लगा। उसने फिर कहा—फकीर साहब आपने पूरे आश्रम के बारे में बताया लेकिन इस भवन के बारे में बार-बार पूछने पर भी कुछ नहीं बताया। बताइए न आखिर आप लोग इस भवन में करते क्या हैं? सम्राट की उत्तेजना देखकर फकीर मुस्कराया और धीरे से बोला, सम्राट इस भवन में हम लोग कुछ भी नहीं करते हैं। सम्राट हैरान हुआ, कुछ भी नहीं, फिर इसे बना क्यों रखा है? यह ध्यान

काया मुरली बाँस की :: 29

का कक्ष है, फकीर ने बताया जहाँ हम कुछ नहीं करते। अब तो सम्राट को और अधिक ताज्जुब हुआ कि एक ओर तो कहते हैं कि यह ध्यान का कक्ष है और दूसरी ओर बताते हैं कि यहाँ कुछ भी नहीं करते। फकीर ने समझाया, सम्राट ! ध्यान वही होता है जिसमें व्यक्ति 'कुछ भी नहीं करता' है। जहाँ मनुष्य कर्त्ताभाव को छोड़कर क्रियाशील होता है, जहाँ उसकी प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं वहीं ध्यान की भूमिका निर्मित होती है। इसलिए इस कक्ष में हम कुछ भी नहीं करते।

हर व्यक्ति के जीवन में प्रतिदिन कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं जब उसके पास करने को कुछ नहीं होता। वह एकदम खाली होता है, लेकिन उसे इस समय का उपयोग करना नहीं आता। वह इस रिक्तता को बाह्य वस्तुओं से भरने का प्रयास करने लगता है। कभी अखबार पढ़ेगा, कभी टी.वी. देखेगा या फिल्म देखेगा, कुछ भी करेगा जरूर, अपने को व्यस्त रखने के सब उपाय करेगा, लेकिन एक ऐसा उपाय है जिसे वह कभी कर नहीं पाता। अपनी चेतना को समझने का प्रयास। वे क्षण कितने पावन होते हैं, कितने निर्मल होते हैं। जब हम अपनी प्रवृत्तियों को जानने की ओर अग्रसर होते हुए उनसे निवृत्त होने की भी कोशिश करते हैं।

ध्यान का भवन जहाँ कुछ भी नहीं किया जाता। जहाँ चेतना में प्रवृत्तियों से मुक्ति आ जाए और निजानन्द स्वरूप को जानने की भावना जाग्रत हो जाए वहाँ मनुष्य के जीवन में ध्यान सधना शुरू होता है। इसलिए कबीर ने ध्यान को 'सुरति' कहा। सुरति अर्थात् स्मृति जब मनुष्य की स्मृति में ही चेतना का बसेरा हो गया। अभी तो मनुष्य की स्मृति में संसार और इसका मायाजाल, अतीत और भविष्य की खूटियाँ लटकती रहती हैं, लेकिन जब इन खूटियों के बीच 'सुरति' स्वयं की स्मृति जन्म जाए तब ध्यान के राजमार्ग खुलते हैं। कबीर एक जुलाहा था, वस्त्र बुनता था, पत्नी-बच्चों के साथ रहता था, लेकिन 'सुरति' जाग गई। उसने वेश-परिवर्तन नहीं किया और न ही सिर मुंडाया बल्कि जैसे तुम सबके बीच, संसार के मध्य रहते हो ऐसे ही वह भी रहता था, लेकिन 'सुरति' के साथ। उन्होंने कहा—गाएं घास चरने जंगल में जाती हैं, दिन भर घास चरती हैं, आनंदित होती हैं लेकिन उनकी 'सुरति' तो घर में बंधे बछड़े में होती है। उसकी स्मृति में तो बछड़ा ही रहता है। पनिहारिनों की 'सुरति' पानी भरे घड़े में और नट की सुरति रस्सी में रहती है, उसी तरह तुम भी चेतना में अपनी सुरति रखो। उस असीम में अपनी सुरति रखो जिसके कारण तुम्हारा अस्तित्व है।

कितने आश्चर्य की बात है कि जो तत्त्व तुम्हारे भीतर ही छिपा हुआ है, उसे तुम बाहर तलाशते रहते हो। किसी सदगुरु के सम्पर्क में आने पर ही वह बता सकता है 'तेरा साईं तुज्झ में' बस सुरति की आवश्यकता है। सागर में बहने वाली मछली अगर लहरों से कहे कि मुझे सागर से मिलना है, यह सागर क्या चीज है। अब तुम ही बताओ उसे सागर के बारे में कैसे समझाया जाए। वह सागर में ही है, लेकिन तलाश रही सागर को। यह सुरति कैसे दी जाए कि तुम्हारे भीतर ही परमात्मा है। तुम कस्तूरी मृग की भांति भटक रहे हो, लेकिन 'कस्तूरी कुण्डल बसै' वह तो भीतर ही है। कोई सदगुरु ही तुम्हें उसकी सुगंध से परिचित करा सकता है। जिसका सुरति में बसेरा हो गया है वह पल-पल जागरूक और चैतन्य बना रहता है।

कभी-कभी जब तुम साधना के, धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होते हो, तो और अधिक परेशानियों में फंस जाते हो। मुझसे एक महानुभाव कह रहे थे कि उनके पिताजी जब से साधना-पथ पर अग्रसर हुए हैं अधिक बीमार, अधिक दुखी, अधिक अप्रसन्न रहने लगे हैं। मैंने कहा यह तो मैं भी देख रहा हूँ पर क्या तुम जानते हो ऐसा क्यों हो रहा है? भगवान महावीर तीस वर्षों तक राजमहल में रहे उनके पाँव में कांटा भी नहीं चुभा, लेकिन मुनित्व ग्रहण करने के बाद उन पर क्या-क्या संकट नहीं आये। भगवान बुद्ध जब तक राजमहल में रहे, दुःख की छाया भी उन पर नहीं पड़ी, लेकिन संन्यासी होने की पहली घड़ी में उन्होंने विपदाओं से ही साक्षात्कार किया। रामकृष्ण परमहंस कैसर से पीड़ित हो गये। यह सब क्यों हुआ क्योंकि मनुष्य के कर्म परमाणु सुषुप्त रहते हैं और साधक ध्यान-साधना के द्वारा इन कर्म-परमाणुओं को समाप्त करने की कोशिश करता है तब वे जाग्रत होकर ऊपर आते हैं। हमारी चेतना के चारों ओर रहने वाले कर्म-परमाणु हमारी साधना से आंदोलित होकर हमारे ऊपर हावी होने की चेष्टा करते हैं ताकि मनुष्य साधना से विमुख हो जाए। तब हमें अपनी सुरति बनाये रखना है। अपनी चेतना, जो ज्योति-पुंज है, की स्मृति रखना है।

हम बाहर इस ज्योति को, इसके प्रकाश को तलाशते रहते हैं और भीतर का प्रकाश हमारे हाथ से छिटक जाता है। कभी-कभी लोग पूछते हैं कि जब यह ज्योति-पुंज है तो दिखाई क्यों नहीं देता। मेरे प्रभु, तुम साधना की गहराई में उतरो यह अवश्य दिखाई देगा। हाँ, अगर दिखाई नहीं दे रहा है तो इसलिए कि अभी तुमने उस प्रकाश को जाना ही नहीं है। अभी तुमने बाहर सूर्य देखा है अन्तस् का महासूर्य देखना शेष है। उतरो, गहरे उतरो, तुम उसका तेज जरूर महसूस करोगे।

जिस दिव्यता का साक्षात्कार भगवान ने स्वयं किया, लेकिन वे भी उसे वर्णित नहीं कर सके, उसे सामान्यजन कैसे अभिव्यक्त कर सकता है। यह तो 'गूंगे केरी सर्करा' है, जो गहन अंधकार में भी जाज्वल्यमान रहती है। इसलिए ध्यान वह प्रक्रिया है जहाँ तुम कुछ नहीं कर रहे हो और जो कर रहे हो उससे मुक्त हो जाओ तो चेतना की ज्योति का दर्शन हो जाये। जब तुम कुछ नहीं कर रहे हो तो निर्विचार, निर्विकल्प दशा में तुम्हारी बाह्य समस्याएँ तिरोहित हो जाती हैं और तुम चैतन्य, मुक्त और आनन्दमय हो जाते हो। तुम्हारा जीवन तो कोरा कागज है तुम जो चाहो, वह इसमें लिख सकते हो। अब यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है कि तुम अपने जीवन का इतिहास कैसा लिखना या लिखाना चाहते हो। तुम्हारा जन्म कोरे कागज जैसा हुआ है, इस पर तुम कैसी लकीरें खींचते हो यह तुम्हारे ऊपर है। जन्म तो सत्य को लेकर हुआ है, लेकिन तुम इसमें झूठ का मिश्रण किये चले जाते हो। गीतों का सृजन करो या गालियों का निर्माण, यह तुम्हारे हाथ में है। दिव्यता ने तुम्हारे हाथ में दियासलाई दे दी है, अब इससे तुम दीपक जलाते हो या झोंपड़ी, यह तुम देखो। बनाना चाहते हो या मिटाना !

आज के सूत्र हैं—

कोरा कागज जिंदगी, लिख चाहे जो लेख।
 इन्द्रधनुष के रूप-सा, हो अपना आलेख।।
 ज्योति-कलश है जिंदगी, सबमें सबका राम।
 भीतर बैठा देवता, उसको करो प्रणाम।।
 काया मुरली बांस की, भीतर है आकाश।
 उतरें अन्तर् शून्य में, थिरके उर में रास।।

आज के सुनहरे सूत्र बिल्कुल ऐसे हैं जैसे कोई हिमालय की तलहटी में खड़े रहकर हिम-शिखरों पर पड़ती हुई सूर्य-रश्मियों से चमकते उत्तुंग शैल-शृंगों को निहारे। हिमाच्छादित भोर के सौन्दर्य की तुलना तुम किससे करोगे ? ये जीवन के सूत्र भी ऐसे ही हैं जो अतुलनीय हैं। ये वे शिखर हैं जहाँ पहुँचना जीवन का लक्ष्य है। 'कोरा कागज जिंदगी, लिख चाहे जो लेख, इन्द्रधनुष के रूप सा हो अपना आलेख'। परमात्मा ने जब तुम्हें यहाँ भेजा, तुम बिल्कुल कोरे थे। तुम्हें किसी भी बात का पता न था। न तुम सत्य बोलते थे, न झूठ कहते थे, न तुम ईर्ष्या जानते थे, न प्रेम का कोई पता था, किसी करुणा या क्षमा से भी तुम्हारा परिचय नहीं हुआ था। बिल्कुल कोरे, एकदम अछूते थे।

जन्म सांयोगिक हो सकता है, लेकिन जीवन नहीं। जीवन तो परमात्मा की देन है बिल्कुल निर्मल और पवित्र।

जीवन का कागज एकदम खाली है ताकि तुम जान सको कि जन्म से लेकर मृत्यु के सफर में तुमने इस कागज में क्या लिखा है। जन्म के साथ ध्वनि नहीं होती, पहचान नहीं होती, संगीत का ज्ञान नहीं होता, बिल्कुल शुद्ध सत्य रूप पैदा होते हो। जीसस ने कहा भी है, 'जो व्यक्ति बालक की तरह सरल हो जाता है वही परमात्मा के राज्य में प्रवेश कर सकता है।' सरल अर्थात् जिसके भीतर कुछ भी नहीं है। बच्चों को देखा है न कैसे भोले, निष्पाप और निष्कपट होते हैं ऐसा ही जो व्यक्ति हो जाता है वही परमात्मा को उपलब्ध कर पाता है। साधक संकेत दे रहा है कि 'कोरा कागज जिंदगी' तुम्हें तो कोरा कागज मिला है इसे तुम किस प्रकार के शब्दों से भरते हो यह तुम्हें जानना है। गीता भी अवतरित हो सकती है, गीत भी गाये जा सकते हैं और गालियों का शब्दकोश भी भरा जा सकता है। चुनाव तुम्हारे हाथ में है। अतीत के खंडहरों पर भविष्य का महल बनाते हो या वर्तमान के आनन्द से सराबोर होते हो, तुम्हें क्या करना है यह बेहतर कोई नहीं जानता। अगर तुम नहीं जानते हो तो लगा दो छलांग डूबे कि तारे। कागज की नाव कहीं नहीं पहुँचाएगी, लेकिन कोरा कागज जरूर तुम्हारे जीवन की स्याही से रंगीन किया जा सकता है।

तुम इतने तनाव से भरे क्यों हो ? क्यों नहीं अतीत की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं से मुक्त हो जाते। यही तुम्हारे तनाव का एकमात्र कारण मुझे प्रतीत होता है कि तुम्हारा वर्तमान कहीं भी नहीं है या तो अतीत है या भविष्य। और इन दोनों का कहीं अस्तित्व नहीं है, लेकिन इन दोनों के हिंडोले में तुम वर्तमान को झुलाते रहते हो।

मुझे याद है : एक निस्संतान दम्पती थे। किसी ज्योतिषी से बच्चे के जन्म के बारे में पूछा। ज्योतिषी भी कोई पहुँचा हुआ व्यक्ति रहा होगा कह दिया अगले वर्ष आप माता-पिता बन जाएंगे। दोनों बहुत खुश हुए। अब वे भविष्य की कल्पनाओं के जाल बुनने लगे। सबसे पहले तो मान ही लिया कि बेटा ही होगा। अब पुत्र होगा तो दावत देंगे। दावत देनी है तो किन-किन को निमंत्रण दिया जाए, इसकी सूची तैयार की गई। अब बच्चा क्या पहनेगा, इसका निर्णय किया गया। बच्चा है तो बड़ा भी होगा, उसे कहाँ पढ़ाया जाए, सब बाते हो तय गईं। अन्ततः उसे क्या बनाया जाए इस पर विवाद हो गया। पत्नी कहने लगी मैं तो उसे डॉक्टर बनाऊंगी और पति अड़ गया कि उसे

वकील बनाएंगे। पति वकील था। हर पिता यही चाहता है कि जो वह कर रहा है वही बेटा भी करे। सो अड़ गया कि वकील। और पत्नी की जिद कि डॉक्टर। बात बढ़ गई। दोनों अपनी बात पर अडिग। दिन बीते, लेकिन जिद नहीं गई। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि दोनों के बीच तलाक की नौबत आ गई। कचहरी में तलाकनामा प्रस्तुत हो गया। न्यायाधीश ने तलाक का कारण जानना चाहा क्योंकि वे अभी तक प्रसन्न और सुखी-सम्पन्न दम्पति थे। न्यायाधीश को भी आखिर मालूम होना चाहिए कि तलाक का आधार क्या है। अब वकील पति बोला कि मैं अपने बेटे को वकील बनाना चाहता हूँ और मेरी पत्नी की जिद है कि वह डॉक्टर बनाएगी। अब आप ही बताइये कि पुत्र पर माँ का अधिकार होता है कि पिता का। न्यायाधीश चौंका क्योंकि उसे भी पता था कि उनके कोई बेटा नहीं है। उसने कहा तुम लोग अपने पुत्र को बुलाओ उसी से पूछ लेते हैं कि वह क्या बनना चाहता है। पति-पत्नी चकित रह गये। उन्होंने कहा—साहब ! पुत्र तो ज्योतिषी की जन्म-कुण्डली में ही है, अभी पैदा नहीं हुआ है। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसके लिए अपने वर्तमान को दाँव पर लगा दिया।

तुम्हारा जीवन इसलिए नहीं है कि यूँ ही इसे विनष्ट कर दिया जाए। थोड़ा-सा सचेत होने की जरूरत है, फिर तुम देखोगे कि अभी तक का जीवन व्यर्थ गंवा दिया। सचेतनता जीवन में क्रांति ला देगी। तुम्हारा कागज तुम्हें दिखाई देगा कि इसमें क्या-क्या निरर्थक लिख दिया है, तुम उसे हटाना चाहोगे। तुम फिर से उसे कोरा करने में उत्सुक हो जाओगे, लेकिन जो लिखा जा चुका है उसे समाप्त करने का उपाय नहीं है। हाँ, जो शेष रह गया है उसे अवश्य ही सुधार सकते हो। उसको जरूर जीवन से भर सकते हो। उसमें सतरंगी इन्द्रधनुष उतार सकते हो। इन्द्रधनुष देखा है कितना रंगीन, कितना सुन्दर, जिसमें प्रकृति का उल्लास झरता है। तुम भी अपने जीवन को ध्यान, प्रेम, करुणा के रंग से भर दो, उत्सव और आनन्द झरने दो। ऐसा आनन्द जो आज तक नहीं मिला है।

हम अत्यधिक विकल्पों से भरे हुए हैं और ध्यान निर्विकल्प करने की क्रिया है।

कितने भरे हैं अंदर कुछ न समाता,
 अद्भुत कुछ घटने वाला घटने न पाता।
 व्यर्थ के विकल्पों में गोते न खाइए,
 अपने को पहले बिल्कुल खाली बनाइये।

साधना के पथ पर कदम बढ़ाइए, लेकिन सबसे पहले स्वयं को रिक्त कर लेना है। खाली पात्र में जो उतरेगा वह स्थायी और शाश्वत होगा नहीं तो तुम्हारे संदेह, तुम्हारे ही कांटे बन जाएंगे। तुम्हारी कलुषता पवित्रता को भी अपवित्र कर देगी। जहर के प्याले में अगर अमृत की बूंदें डाली जाएं तो वे भी जहर में बदल जाती हैं। इसलिए वह साधक ध्यान द्वारा तुम्हारे जीवन में ऐसी भूमिका बनाना चाहता है कि अगर अमृत की बूंदें बरसें, परमात्मा की दिव्यता प्रकट हो तो तुम्हारा चेतन निर्मल, पवित्र और रिक्त हो ताकि तुम उस अमिरस को आत्मसात कर सको।

‘ज्योति-कलश है जिंदगी, सबमें सबका राम। भीतर बैठा देवता, उसको करो प्रणाम’ – तुम्हारा जो कोरा कागज था उसे ज्योति-कलश बनाओ। इन्द्रधनुष के रंग भरकर उसे ज्योतिर्मय करो। तुमने मंदिर के शिखर पर कलश देखे होंगे। वह मंदिर का ऊपरी सर्वोच्च भाग है। नीचे पूरा मंदिर है, अन्दर देव-प्रतिमाएँ विद्यमान हैं, तुम उन्हें वंदना करते हो लेकिन जीवन मंदिर को विस्मृत किये बैठे हो। ज्योति-कलश का प्रतीक बहुत ही अर्थपूर्ण है। मंदिर का शिखर-कलश तुम्हारा सिर है। तुम सभी के अन्दर तुम्हारा राम है फिर तुम उसे बाहर कहाँ ढूँढते हो। अपनी दृष्टि को लौटाओ, तुम्हारा राम तुम्हें मिल जाएगा। वह सदा से ही तुम्हारे भीतर था, लेकिन तुम भीतर न जा सके इसलिए बाहर मंदिरों का निर्माण कर लिया और उन पर कलश रख दिये। मंदिरों में देवताओं की स्थापना कर ली। यह बाहरी मंदिर प्रतीक हैं भीतर के मंदिर के। मंदिर में जाने का अर्थ है कि अपने भीतर प्रवेश करो, अपने देवता को पहचानो, अपने राम से मुलाकात करो, अपने प्रभु से सम्पर्क बनाओ। उन्हें प्रणाम करो।

साधक कह रहा है कि बहुत भटक लिए बाहर, अपने भीतर जाओ और देखो कि तुम्हारा राम तुम्हारे ही पास है। उसे कहाँ-कहाँ ढूँढ लिया पर न पा सके। अब एक बार, केवल एक बार भीतर मुड़ जाओ और वह वहीं है जिसे तुम सदा-सदा के लिए पा जाओगे। तुम ढूँढते हो कहीं अन्तरिक्ष में, किसी तीर्थ में, लेकिन नहीं ढूँढते तो अपने भीतर। तुम जहाँ गए निराशा ही हाथ आई इसलिए अब अपने पास, स्वयं के पास आ जाओ तुम उसे अपने ही पास पाओगे। एक घटना याद आती है—बचपन में जब हम सोकर उठते थे तो हमारी माँ कहा करती थी दोनों हथेलियाँ मिलाकर देखो। फिर उन्हें बंद कर प्रणाम करो। माँ कहती थीं, कर लेते थे। आज भी यह क्रम जारी है पर अब अर्थ बदल गए हैं। हाथ अब भी उठते हैं, प्रणाम भी करते हैं पर अब जानते हैं क्या कर रहे हैं। अब अपने अन्दर बैठे देवता को प्रणाम करते हैं। आप भी देखिए अपनी

हथेली। आपकी जो सबसे छोटी अंगुली है,, उसके मूल से थोड़ा नीचे एक रेखा है वह हृदय-रेखा है। दोनों हथेलियों की रेखाओं को मिलाकर देखिए कैसी सुन्दर सिद्धशिला बनती है। यह सिद्धशिला ही है जो हम बाहर बनाते हैं और उस अवस्था की प्राप्ति जीवन को मुक्त करती है। यह तो हमारे ही हाथ में है हम कहाँ उसे ब्रह्माण्ड में ढूँढते हैं। हमारा आसमां तो हमारी हथेली में है। हम किधर बाहर प्रणाम कर रहे हैं। यह बाहरी प्रणाम नहीं है, यह तो स्वयं के देवता को प्रणाम है। जो सिद्धशिला हमारे हाथ में है, उसे प्रणाम है। प्रातःकाल जागकर सबसे पहले इसका दर्शन करो और आँख बंदकर इसको प्रणाम भी।

यह धरती भगवान का तीर्थ है, यह शरीर भगवान का मंदिर है, और इस शरीर में विद्यमान चेतना भगवान की प्रतिमा है। इस प्रतिमा को प्रणाम करो। सबमें सबका राम है तुम्हारा राम तुम्हारे पास है। तुम क्यों इधर-उधर भटककर समय नष्ट कर रहे हो। तुम्हारी आदत ही तुम्हें भटका रही है। सदियों से भटकते रहे हो और जब भी किसी ने राह दिखाने की कोशिश की, तुम्हारी आदत बीच में आ गई। तुमने उसकी उपेक्षा कर दी। आखिर कब तक यह चलता रहेगा। बस अब बहुत हो चुका। जानकर नादान मत बनो। अपने जीवन को ज्योति-कलश बनाओ। अपने देवता को पहचानो और उसे प्रणाम करो। बाहर-बाहर बहुत जी लिए अब अन्तस् के आकाश में उतरो, वहाँ महारास रचाओ।

काया मुरली बांस की, भीतर है आकाश।

उतरें अन्तर् शून्य में, थिरके उर में रास।।

हमारी काया तो बांस की मुरली जैसी है। मुरली बांस की खाली पोंगरी होती है, उसमें से मधुर स्वर गुंजरित होते हैं। यह शरीर भी ऐसा ही है तुम इसका सदुपयोग करते हो या दुरुपयोग, यह तुम्हारे हाथ में है। इस शरीर से तुम सत्कार्य करते हो या कु-कार्य तुम्हारी इच्छा है। मुरली में आकाश-अवकाश है, रिक्त स्थान है। यदि उसे सही ढंग से बजाया जाए तो संगीत उत्पन्न होता है, नहीं तो खाली पोंगरी तो है ही। तुम्हारी साधना भी तुम्हारे अन्तर्हृदय में ऐसा ही संगीत जाग्रत कर सकती है। वह अन्तरिक्ष जिसे तुम बाहर देख रहे हो वह अनंत अन्तरिक्ष तुम्हारे भीतर भी है। तुमने कभी अपनी शरीरगत चेतना को परखने की कोशिश ही नहीं की। अभी कुछ दिनों पूर्व मैं मेडिकल कॉलेज में गया था यह जानने कि मनुष्य के शरीर में क्या-क्या है। वहाँ मैंने शवों के परीक्षण देखे और शरीर के अन्दर के अवयवों और नाड़ियों को देखा। उनके कार्यों के बारे में जानकारी हासिल की तो मैंने पाया कि बाहर जितनी भी

प्रकार की मशीनें हैं उन सभी से श्रेष्ठ मशीन तो हमारे अंदर है। सुव्यवस्थित संचालन पद्धति है इस मशीन की। जिसने इस शारीरिक मशीन का निर्माण किया है उस इंजीनियर के प्रति मैं नतमस्तक हो गया। बाहर की मशीनें तो बेजान हैं, लेकिन हमारी मशीन अविरत गतिमान है। उसे ऊर्जा कहाँ से मिलती है ? उस अनन्त अंतरिक्ष से जो भीतर ही मौजूद है।

ऊर्जा का अक्षय भण्डार जहाँ हो वहाँ तो रास होना ही चाहिए। भगवान कृष्ण के साथ जिस रासलीला की कल्पना की गई है वह तो तुम्हारे अंदर घटित हो रही है। परम चैतन्य के आसपास ही तो तुम्हारी चेतना नृत्य कर रही है। प्राचीन प्रतीक बहुत सुन्दर हैं। कृष्ण तो उस पर भगवत्ता के प्रतीक हैं जिसमें तुम्हारी भगवत्ता को समाहित होना है। तुम्हारा हृदय ही वह वृन्दावन है, जहाँ महारास का आयोजन होना है। तुम्हारी चेतना नृत्य रचाएगी परम पुरुष के साथ। तब तुम्हारे अंदर आनंद, उत्सव और धन्यता प्रकट होगी।

अभी हम संबोधि-सूत्रों की भूमिका में प्रवेश कर रहे हैं यह नींव है और नींव मजबूत होनी चाहिए। इसलिए गहनता से, गम्भीरता से इन सूत्रों में प्रवेश करें फिर जब हम ध्यान की गहराई में उतरेंगे तो उन सूत्रों की सार्थकता प्रकट होगी। ये सूत्र साकार होकर जीवन के रहस्यों की परत खोलेंगे। और आपका जीवन परमात्म-चेतना की आनंद अनुभूति से भर जाएगा। आप स्वयं को पूर्णतया निर्भर, निर्मल और पवित्र अनुभव करेंगे। यह सुखानुभूति आपको यथाशीघ्र हो, ऐसी मंगलकामना है।

ओम् शांति, शांति, शांति।



करें, मन का कायाकल्प

मन की तीन गतिविधियाँ हैं—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। अतीत स्मृति है, भविष्य कल्पना और वर्तमान चिन्तन है। मन की गतिविधियों को विस्तार देने में तीनों की सर्वाधिक भूमिका है। मन की चंचलता के तीन सूत्र हैं। जब ये विकृत होते हैं, तो मन विकृत होता है। जब ये सुकृत होते हैं, तो मन सुकृत होता है और जब ये मुक्त हो जाते हैं, तो मन मुक्त हो जाता है।

मन को साधना या मन के पार पहुँचना साधक का प्रमुख ध्येय होता है। वे लोग न तो मन को समझ पाते हैं और न ही साध पाते हैं, जो आजीवन मन की चंचलताओं की उलझन में उलझे ही रह जाते हैं। मन की गहराई तक पहुँचे बिना उसकी वास्तविकता का बोध नहीं किया जा सकता। हम कल्पना करें, ऐसे किसी मन की, जिस मन के साथ जीकर हम शांतिपूर्ण जीवन को उपलब्ध कर लें। जीवन भटकावपूर्ण होने की बजाय समझपूर्ण हो, शांतिपूर्ण हो। इसके लिए पहले चरण में मन को समझें। दूसरे चरण में उसे सु-मन बनाएं और तीसरे चरण में अ-मन दशा को उपलब्ध हो जाएं।

निश्चित तौर पर मन मनुष्य के बंधन का मूल निमित्त है। उलझा हुआ मन बंधन है, लेकिन यही मन जब सुलझ जाता है, अ-मन दशा को उपलब्ध हो जाता है, तो मुक्त हो जाता है। जिसके अन्तर्मन में व्यग्रता है, उसे अगर एकांतवास दे दो, तो वह विक्षिप्त हो जाएगा और जिसके मन में एकाग्रता है, साधना की अभीप्सा है, वह एकांतवास पाकर बुद्ध बन जाएगा।

मैंने मन के तीन चरण दिये—स्मृति, कल्पना और चिंतन। मनुष्य प्रायः या तो स्मृति में जीता है या कल्पनाओं में जीता है। मन की उधेड़बुन का निमित्त

भी यही बनता है। आदमी जीवन भर तक मन से जुड़ा हुआ तो रहता है, लेकिन थोड़ी देर के लिए भी मन से मुक्त नहीं रहता। चौबीसों घंटे मन के चलाए चलते हो, लेकिन थोड़ी देर के लिए भी तुम मन को नहीं चला सकते। मन के साथ वर्षों से जी रहे हो, थोड़ी देर मन से अलग होकर भी जीने का अभ्यास किया जाना चाहिए, ताकि मन को भी थोड़ा विश्राम दिया जा सके। तुम यह मत समझना कि रात को तुम सोये, तो मन भी सो गया। नींद लेते हो, शरीर को आराम मिल जाता है, लेकिन मन फिर भी सक्रिय रहता है। नींद में तुम्हारे चिंतन चालू रहते हैं, मन तनावग्रस्त रहता है। स्वप्न आते रहते हैं। कुछ लोग तो रात भर सपने देखते रहते हैं। परिणामतः आदमी नींद नहीं ले पाता, सपने देखता रह जाता है। यह मत समझना कि तुम सात घंटे सोओ या आठ घंटे सोओ तो वास्तव में सात घंटे सो ही रहे हो। अगर सात घंटों में से चार घंटे तुमने सपने देखे हैं, तो तुम्हारी नींद केवल तीन घंटे की रहेगी। आदमी सुबह उठता है और कहता है कि आठ घंटे सोया पर दिमाग हल्का नहीं हुआ।

हम अगर संबोधि-ध्यान भी करते हैं, तो उसका मुख्य लक्ष्य यही है कि मन को आराम मिले। अगर ध्यान थोड़ा सध जाये, तो स्थिति यह हो सकती है कि हम मन को आराम से सुला सकें। अतीत की स्मृतियाँ और मन की कल्पनाएँ, यही तो मन की चंचलता का प्रमुख कारण है। यह हमारे चिंतन का अधूरापन है कि हम अगर यह सोचें कि अतीत की स्मृतियाँ और भविष्य की कल्पनाएँ साथ न होंगी तो जीवन अर्थहीन हो जाएगा। फिर कैसे घर की स्मृति रहेगी और कैसे भविष्य की योजनाओं का निर्माण कर पाएंगे। थोड़ी देर के लिए मन का कायाकल्प करके इस जंजाल से मुक्त होकर तो देखो, जीवन कितना आनन्दमय हो जाता है।

और स्मृतियाँ ! तुम सोचते हो कि मेरी सार्थक स्मृतियाँ हैं ? अगर सुबह से शाम तक चलने वाली स्मृतियों को किसी कागज पर उतारो, तो खबर लगेगी कि कैसी उधेड़बुन चल रही है। जिन स्मृतियों का तुम्हारे जीवन के साथ कोई ताल्लुक नहीं है, ऐसी स्मृतियों को तुम पाले चले जा रहे हो और ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ कर रहे हो, जिनका कि जीवन के साथ कोई ताल्लुक नहीं है। कोई आवश्यक स्मृति और कल्पना हो और उसे जीवित रखो, तो बात जमती भी है, अनावश्यक कल्पना और स्मृति हमारी शक्ति का अपव्यय है और तनाव का सृजन करना है। निश्चित तौर पर मन सोचने के लिए है और उसका उपयोग किया भी जाना चाहिए, पर अर्थहीन विचारों को साथ लिए चलना, मन का दुरुपयोग ही कहलाएगा। अब तुम मंदिर में बैठे हो माला जपने के लिए, थोड़ी

करें, मन का कायाकल्प :: 39

ही देर में मन स्मृतियों के सागर में डूब गया। किसने, कब, तुम्हारा अपमान किया, किसने सम्मान किया, किसने, कब, गाली दी, किसने, कब, क्या किया—यही सब कुछ चलता रहा मनोमस्तिष्क में और माला चलती रही। मन का उपयोग किया जाना चाहिए। जब जो कार्य करें, तब उसी कार्य में किया जाने वाला मन का उपयोग मन की एकाग्रता है, जब जो कर रहे हैं, उसके विपरीत दिशा में मन का जाना मन की व्यग्रता है।

अतीत की स्मृतियाँ और भविष्य की कल्पनाएँ मनुष्य का मन प्रायः इन्हीं में उलझा रह जाता है। जब तक मन वर्तमान में नहीं उतर आता है, तब तक मनुष्य के प्रयास आध्यात्मिक प्रयास नहीं बन पाते। जड़ और पुद्गल तत्त्वों में ही उसके पाँव जमे रह जाते हैं। बड़ी सहजता और सजगता के साथ धीरे-धीरे मन को वर्तमान की बैठक दी जा सकती है, अतीत और भविष्य से सामान्यतया मन को मुक्त कर दिया जाता है, तो मन को विश्राम मिलता है, भार से मुक्ति मिलती है और मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है। अगर हम यह सोचते हैं कि मन हमारे शरीर के भीतर है, तो जितना हम चलेंगे, उतना ही मन चलेगा, तो हमारी यह सोच अपूर्ण है। शरीर का तो काम ही कितना है। कुछ गिने-चुने काम ही तो हम शरीर द्वारा करते हैं। बाकी सब तो मन ही संपादित करता है। क्षण भर में मन अतीत को पकड़ लेता है और क्षण भर में ही भविष्य को। इसलिए मन काफी महत्वपूर्ण है। इसे समझा जाना चाहिए। हमें मन का उपयोग अधिक से अधिक वर्तमान के लिए करना चाहिए।

संबोधि-ध्यान में हम प्रतिदिन सांसों की विपश्यना करते हैं, प्रेक्षा करते हैं, उनके प्रति सजग होते हैं। मन को वर्तमान में लाने का इससे श्रेष्ठ कोई साधन नहीं होता है, क्योंकि सांस और अनुप्रेक्षा अलग-अलग घटित नहीं होते हैं। दोनों का सातत्य रहता है। अगर ध्यान की विधि में यह निर्देश दिया जाता है कि सांसों की अनुप्रेक्षा करो, तो श्वांस और मन दोनों एक हो जाते हैं, एक साथ दोनों का क्रम चलता है। तब हमारा मन न तो बीती हुई सांस की स्मृति करता है और न ही आने वाले सांस की कल्पना। तब मन की स्थिति होती है वर्तमान की।

भगवान ने कहा है—राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म के मूल निमित्त ये ही बनते हैं। जो वर्तमान का साक्षी है, उसके न तो राग होता और न द्वेष होता है। विपश्यना-ध्यान की जो विधि है, उसका एक चरण शरीर की विपश्यना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी चमड़ी को देखो, हाथ-पांव को देखो

या शरीर के अन्य अंगों को देखो। शरीर की विपश्यना का मतलब है कि हम साक्षी-भाव में उतरकर शरीर के अन्तर्जगत में घटित होने वाली घटनाओं को देखें और स्वयं को उनसे उपरत रखने का प्रयत्न करें। कभी शरीर में प्रिय घटना घटित होती है, तो कभी अप्रिय घटना, कभी शरीर के किसी अंग में सुख की अनुभूति होती है, तो कभी दुःख की। ऋतु के अनुसार सर्दी और गर्मी की अनुभूति भी होती है। अनुभव किया होगा आपने कि जब हम शरीर की विपश्यना करते हैं, तो शरीर के किसी भाग पर खुजलाहट उठती है, कहीं अनमनापन लगता है, कहीं दर्द होता है। इन सब स्थितियों में साधक का साक्षी भाव में डूबे रहना—यही साधक की वर्तमान में बैठक है। ऐसा करते-करते साधक स्मृतियों और कल्पनाओं से तो मुक्त होता है, देहातीत अवस्था को भी उपलब्ध करता है।

वर्तमान का साक्षी बनने के बाद सबसे बड़ी उपलब्धि होती है कि व्यक्ति अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में सम हो जाता है। उपसर्ग शरीर से जुड़ते हैं और साधक जब शरीर की प्रेक्षा करते हुए उससे उपरत हो जाता है, तो बाहरी घटनाएँ उसके शरीर पर तो क्या, मन पर भी प्रभाव नहीं डाल पातीं।

हम ध्यान में बैठते हैं। अगर एक मच्छर आ जाए तो लगता है, उसकी सनसनाहट जैसे कान में रेंग रही है; एक मक्खी आ जाये और शरीर के किसी भाग पर बैठ जाये, तो झट से तुम्हारी मानसिकता उस भाग पर चली जाती है, जहाँ मक्खी बैठी है। अगर शरीर की अनुप्रेक्षा सध जाये तो शायद हम किसी ऐसी ध्यान की परम अवस्था में पहुँच सकते हैं, जहाँ शरीर में रहते हुए भी मुक्त चेतना की स्पष्टतः अनुभूति कर सकते हैं।

पुरानी किताबों में गजसुकुमार की घटना आती है। ये भगवान श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। किसी ब्राह्मण-पुत्री के साथ विवाह की बात भी तय कर ली गई थी, लेकिन तीर्थकर नेमि के पावन विचारों से प्रेरित होकर गजकुमार की चेतना जग गई, प्रव्रजित हो गया। पहले ही दिन चला गया, श्मसान-घाट ध्यान करने। गहरी अंतर-तल्लीनता को उपलब्ध करके ध्यान में उतर गया। अपनी बेटी से विवाह न हो पाने के कारण ब्राह्मण क्रोधित हो उठा। खोजते-खोजते वह श्मसान पहुँच गया। देखा गजकुमार ध्यान में है। ब्राह्मण ने इसे नाटक समझा। उसने आसपास से मिट्टी ली, गजकुमार के सिर पर पाल बांध दी। आसपास पड़े जलते अंगारों को मुनि के सिर पर डाल दिया। ब्राह्मण तो चला गया; अब मुनि की बारी थी। किसी साधक के शरीर की विपश्यना

और अनुप्रेक्षा हो, तो ऐसे। सिर पर अंगारे धधकते रहे, लेकिन शरीर की अनुप्रेक्षा करते हुए एक-एक पल की घटना का वह साधक साक्षी बन गया। इस बोधि के साथ वह तल्लीन बना रहा कि मैं अलग हूँ और शरीर अलग है। कहते हैं, वह साधक साधना की इतनी गहराई में पहुँच गया कि वह रात उसकी साधना की अंतिम रात बन गई और सूर्योदय से पहले ही उसके भीतर रोशनी जगमगा उठी। वह मुक्त हो गया, बोधिलाभ को उपलब्ध हो गया।

हजार दफा ध्यान की बैठक लगाकर और शिविरों में सम्मिलित होकर भी शायद शरीर की उस अनुप्रेक्षा का आंशिक भाग भी हम जीवन में चरितार्थ नहीं कर पाये।

इसलिए मैंने कहा, वर्तमान में आओ। कल की बातों को अब छोड़ो। न बीता कल और न आने वाला कल। तुम्हारा तो वर्तमान है।

मनुष्य के साथ आम तौर पर तीन तरह के तनाव होते हैं—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। कायोत्सर्ग के द्वारा हम शरीर का व्युत्सर्ग करते हैं। ध्यान-शिविर में हम जो दोपहर में ध्यान करते हैं, वही कायोत्सर्ग ध्यान है। हम देहानुभूति से विदेहानुभूति में प्रवेश करते हैं। शारीरिक तनाव तो फिर भी हल्का है। कायोत्सर्ग की थोड़ी-सी बैठक लग जाए, तो यह दूर हो जाता है, लेकिन मानसिक तनाव हमारी आध्यात्मिक उन्नति को रोकता है। गेहूँ में घुन की तरह आध्यात्मिक विकास को नष्ट कर देता है।

मानसिक तनाव के दो कारण होते हैं—किसी भी बिंदु पर ज्यादा सोचना या अनावश्यक सोचना। आप देखेंगे कुछ लोगों की स्थिति कि किसी तरह की घटना घट गई या किसी ने कोई विपरीत बात कह दी, तो व्यक्ति उसी में घुटता रह जाता है। दो शब्द कह दो, तो उसका मन भारी हो जाता है। उसकी बेचैनी चेहरे पर भी उभर आती है। सोचना अच्छा है, लेकिन सोच की दिशा हमेशा सृजनात्मक रहनी चाहिए। और दूसरी बात जब जो करो, तब उसी का सोच रहे।

अभी पिछले वर्ष मैंने अपनी दैनंदिनीय व्यस्थाएँ बनाईं। हमारे यहाँ तीन शब्द हैं—ज्ञान-आराधना, दर्शन-आराधना और चारित्र-आराधना। मुनि-जीवन में मेरी दृष्टि में इन तीनों का आचरण अवश्य कर लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो जाए कि हमारा समय और श्रम मात्र सामाजिक व्यवस्थाएँ बिठाने में, दिन भर आने-जाने वालों से मिलने में, प्रवचन इत्यादि कार्यों में ही खर्च हो जाये। यह कोई मुनि-जीवन थोड़े-ही है। यह तो सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। हम अपने

आपके लिए, चेतना के ऊर्ध्वरोहण के लिए, कितना कर पाते हैं, यह महत्वपूर्ण है। मैंने व्यवस्था की कि दिन भर का एक भाग ज्ञानाराधना में बीते, स्वाध्याय हो, ताकि ध्यान की अगर बैठक लगे, तो चिंतन को और अधिक ऊर्ध्वमुखी आयाम मिल सके। प्रतिदिन स्वाध्याय होता रहे, तो मस्तिष्क का अभिनव प्रक्षालन हो सकता है, ऐसा प्रक्षालन, जिसमें कुछ नया चिंतन उपलब्ध हो और पुराना कचरा बह जाये।

दूसरा नियम मैंने बनाया—दर्शन-आराधना, दर्शन की आराधना हो और इसके लिए विकल्प चुना—नया सृजन। ऐसा नया सृजन जिससे साहित्य को नये आयाम मिले, जिसका सम्बन्ध कोरी मस्तिष्क की खुजलाहट से नहीं वरन् जीवन-विकास से हो। तीसरा चरण मैंने स्वीकार किया—चारित्र-आराधना। यों तो मैंने चारित्र बीस साल पहले ही स्वीकार कर लिया, लेकिन मात्र गुरु से चोटी खिंचवा लेना, इतना ही चारित्र नहीं है। चारित्र तो भीतर का आनन्द है, जीवन की ऐसी परिमल यात्रा है, जिसमें अवसाद, दुःख, चिंता, कषाय, कामना पास भी न फटक सके, यह तो आनन्द है। चारित्र तभी सार्थक होता है, जब तुम्हें आनन्द उपलब्ध हो जाये। आनन्द की उपलब्धि के लिए ध्यान की बैठक जरूरी है। ध्यान की बैठक न होगी, तो कैसे होगा मन का कायाकल्प, वृत्तियों का विरेचन और हमारी शक्ति ऊर्ध्वमुखी कैसे बन पाएगी।

आज हम संबोधि-सूत्र के जिन पदों को उठा रहे हैं, वे मनुष्य के अन्तस् से जुड़े हैं, उसके मन से जुड़े हैं। केवल बाह्य व्यक्तित्व ही नहीं, आंतरिक व्यक्तित्व भी उज्ज्वलतम होना चाहिए। आज के संबोधि-सूत्र के पद हमारे लिए जीवन की नई दिशा दे रहे हैं। वे मनुष्य के रोम-रोम में ऐसा प्राण फूंकना चाहते हैं कि मनुष्य अपने भीतर उतरकर मन का कायाकल्प कर सके। मन की मुक्ति के लिए आज के सूत्र हमारे लिए बेशकीमती हैं। आज के सूत्र हैं—

मन के कायाकल्प से, जीवन स्वर्ग समान।
 भक्ति से शृंगार हो, रोम-रोम रसगान।।
 मन मंदिर इंसान का, मरघट, मन श्मशान।
 स्वर्ग-नरक भीतर बसे, मन-निर्बल, बलवान।।
 मन की दुविधा गर मिटे, मिटे जगत्-जंजाल।
 महागुफा की चेतना, काटे मायाजाल।।

सूत्र का पहला भाव है—मन का कायाकल्प—‘मन के कायाकल्प से, जीवन स्वर्ग समान’। कायाकल्प काफी महत्वपूर्ण शब्द है, जीर्ण-शीर्ण हो जाती है

काया और उसकी कोशिकाएँ, तब उसके भीतर औषधि व रसायन द्वारा प्राण फूंकने की जो प्रक्रिया की जाती है, उसका नाम है—कायाकल्प। यहाँ बात कर रहे हैं मन के कायाकल्प की। मन भी तनाव से टूटकर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। उस बूढ़े मन को परम चैतन्य तत्त्व के साथ तादात्म्य की भावना से फिर यौवनमय किया जा सकता है। अभी मैंने मन पर कुछ चर्चा की थी, उसका लक्ष्य मन का कायाकल्प ही है। मन की शक्ति तो जग जाती है, लेकिन द्वंद्व चेतना अगर बनी रह जाए, तो दुःख और उभरकर आता है। अर्न्तद्वंद्व चलने से चेतना में तनाव जगता है। तनाव से मानसिक विकार और रोग पैदा होते हैं। तनाव का धीरे-धीरे कटौती करना ही मन का कायाकल्प है। जैसे शरीर के कायाकल्प की अपनी विधि और प्रक्रिया है, और उसमें समय भी लगता है वैसी ही स्थिति मन के कायाकल्प की है। मन के कायाकल्प का परिणाम हमें यह मिलेगा कि हम मन की गति पर अंकुश लगा पायेंगे। समस्याओं का समाप्तीकरण होगा और दुःख-मुक्त जीवन जी पाएंगे।

मैंने कहा—मन का कायाकल्प, तो इसका अर्थ मन को दबाना नहीं है। निरर्थक उधेड़बुन से हटाकर उसे शांति की बैठक देना है। उन हलचलों और द्वंद्वों से मुक्त होना है, जो भीतर में अशांति के निमित्त पैदा करते हैं। निर्द्वन्द्व चेतना को उपलब्ध करना है, ताकि उजला पानी फिर धुंधला न हो जाए।

कहते हैं, भगवान बुद्ध विहार कर रहे थे। उनका परम आत्मीय शिष्य आनन्द भी उनके साथ था। प्यास लगने पर बुद्ध का संकेत पाकर आनन्द थोड़ी-ही दूर झरने से पानी लेने चला गया। देखा झरने के पास जाकर कि पानी धुंधला था। आनन्द ने देखा पानी पीने लायक नहीं है। बुद्ध को जाकर यह बात बताई। भगवान मौन रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर आनन्द को झरने से पानी लाने का संकेत किया। आनन्द को तो पता था कि पानी धुंधला है, लेकिन भगवान का संकेत जो मिला, आनन्द टाल न पाया। वह जल लेने के लिए फिर रवाना हो गया। वह अनमने भाव से झरने के पास पहुँचा, लेकिन देखा झरने का पानी बिल्कुल साफ! आनन्द पानी लेकर वापस आया। प्रभु से पूछा—भगवन्, मैं थोड़ी देर पहले गया, तो पानी धुंधला था, लेकिन अब साफ है। वे मुस्कराए और कहने लगे—झरने का स्वभाव तो मनुष्य के मन की तरह है। तुम पानी लेने गये थे, उससे कुछ ही क्षण पहले एक बैलगाड़ी उधर से गुजरी और पानी में हलचल हुई। दबी हुई मिट्टी पानी में घुलमिल गई और थोड़ी ही देर में हलचल शांत हो गई, तो पानी पुनः साफ-स्वच्छ हो गया।

यही स्वभाव मन का है। हलचल होगी, तो धुंधलापन छायेगा। और शांत होते ही स्वतः स्वच्छ हो जायेगा। सीधा-सादा सिद्धान्त है—एक काम करके दूसरे काम में प्रवेश करो, तो पहले काम से मुक्त हो जाओ। हमारी स्थिति तो बड़ी विचित्र है। जो व्यावसायिक चिन्तन रात को सोते समय चल रहा था, सुबह आँख खुली तो वही चिंतन जारी। रात में दो बजे आँख खुल गई, तो वही चिंतन। कभी झुंझलाहट नहीं आती कि सारा जीवन ही व्यावसायिक हो गया है? आखिर जीवन के लिए, स्वयं के लिए भी मनुष्य को कुछ करना होता है।

मन की दो अवस्थाएँ हमें स्पष्टतः दिखाई देती हैं—समन और अमन। समन यानी मन का होना और अमन यानी मन का न होना। हमारी जब ध्यान में गहरी बैठक लगती है, तो क्षण भर के लिए ही सही हम अमन में प्रवेश करते हैं। अमन की स्थिति तब उपलब्ध होती है, जब मन का कोई केन्द्र-बिन्दु न हो, न अच्छा, न बुरा। एक साधक बता रहे थे कि ध्यान-शिविर की पिछली बैठक में जब मैं ध्यान कर रहा था, तो इतना गहरा उतर गया कि श्वास-चक्र तो चल रहा था, लेकिन लगा मैं कहीं खो गया हूँ। पिछले वर्ष जब आबू में ध्यान-शिविर था, तो अंतिम दिन मैंने देखा, एक सधा हुआ ध्यान-साधक अचानक उठा और चिल्लाने लगा कि मेरा शरीर कहाँ चला गया? कुछ लोग हंसे भी होंगे, लेकिन ध्यान में ऐसा होता है। ध्यान में शरीर की अनुभूति मिट जाती है। ऐसा लगता है मानो शरीर परमाणुओं का पंज बन गया हो और इधर से उधर केवल डोल रहा हो।

पद है—‘मन के कायाकल्प से जीवन स्वर्ग समान।’ विकृत मन जीवन को नरक बनाता है और कायाकल्प किया हुआ मन जीवन को स्वर्ग बना देता है। मनुष्य अपने जीवन में सैकड़ों दफा स्वर्ग और सैकड़ों दफा नरक में जीता है। वही मकान, वही व्यवसाय, वही पत्नी—सब कुछ वही, लेकिन ये सब ही कभी मनुष्य को सुखी करते हैं और कभी दुःखी। तनाव, अवसाद, कुंठा, घृणा से घिरा मन जीवन को नरक बनाता है, प्रेम, शांति, सहृदयता में उतरा मन मनुष्य के लिए स्वर्ग का निर्माण करता है। इसीलिए संबोधि-सूत्र में कहा मन के कायाकल्प से जीवन स्वर्ग समान। मृत्यु-लोक के पार जो स्वर्ग-नरक हैं, उनकी तो कल्पनाएँ की जा सकती हैं, नक्शे बनाये जा सकते हैं या कहानियाँ कही जा सकती हैं, लेकिन इस जीवन में घटित होने वाला स्वर्ग और नरक हमें वास्तविक प्रतीति करवाता है।

‘भक्ति से शृंगार हो, रोम-रोम रसगान।’ किससे करो मन का कायाकल्प ? भक्ति से। सबसे सीधा-सहज-सरल उपाय भक्ति ही तो है। मनुष्य के अन्तर्मन के शृंगार करने के लिए, मन के कायाकल्प की गहरी अभीप्सा जगाई जा रही है, जिसे श्री अरविन्द ने तल्लीनता कहा है। तल्लीनता जग जाए, तो फिर कौन उसे मिटा सकता है, हटा सकता है। चाहे कैसे भी संदेह डाल दिये जाएं, लेकिन हर परिस्थिति में तल्लीनता अबाध बनी रहती है। आज मानव जाति की विचित्र स्थिति है। बेशुमार भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध करते-करते वह छलछला उठी है, लेकिन तृप्ति नहीं मिल पाई है उसे।

प्रज्ञा जब अपनी प्रकृष्टता को उपलब्ध करती है, तो उसके जीवन के चार ही ध्येय बनते हैं—भगवान, प्रकाश, स्वाधीनता और अमरता। सम्पूर्ण अध्यात्म-जगत का यही अभिवांछित है। अध्यात्म के आदि और अन्त—यही चारों हैं। मार्ग भी यही है और मंजिल भी यही है, ध्यान भी यही है और ध्येय भी यही है। भले ही ये चारों दिखने में मनुष्य जाति के लिए असामान्य से लगते हों, लेकिन हमारी चेतना के स्वभाव भी यही हैं। जब मनुष्य के अन्तर्मन में तल्लीनता और अभीप्सा जग जाती है, तो उसके बाद उसके व्यक्तिगत प्रयास दिव्य चेतना की ओर अभिमुख हो जाते हैं। मनुष्य के अन्तर्मन में विकारों और अहंकारों से भरी दिव्य-सत्ता में परम-चैतन्य ज्योति को विराजमान करना और उसे चैतन्य कर देना। उसे पाना और वही हो जाना स्वयं में भगवान की उपलब्धि है। संसार की ओर अभिमुख होती हुई मानसिकता को अतिमानसिक प्रकाश में रूपांतरित करना, यह प्रकाश की उपलब्धि है। जीवन जहाँ केवल शारीरिक पीड़ाओं और कष्टों में घिर जाए, वहाँ स्वयंभू आनंद का निर्माण करना जीवन का प्रकाश है। यांत्रिक होती हुई जिंदगी, जहाँ सब कुछ यंत्रवत् चल रहा हो, किसी बच्चे ने गलती की, तुम्हें गुस्सा आया, यंत्रवत् हाथ ऊपर उठा और तुमने चांटा जड़ दिया। जो मनुष्य स्वयं को यांत्रिक झुण्ड के रूप में प्रकट करता हो वहाँ आत्म-स्वाधीनता को प्रतिष्ठित करना और क्षण-क्षण परिवर्तनशील हो रहे पार्थिव शरीर में अमरत्व उपलब्ध करना। यह जीवन-साधना की पूर्णता है।

‘मन के कायाकल्प से जीवन स्वर्ग समान।’ रूपान्तरण करो अपनी मानसिकता का और सामान्य मन को अतिमनस् में ढाल दो, ताकि मन की सक्रियता और शक्ति हमारे जीवन में स्वाधीनता और अमरत्व को उपलब्ध करने में सहयोगी बन सके। अपने मन को शृंगारित करो, उतरो भीतर, खोज-पड़ताल करो और देखो भीतर कि मन का सौन्दर्य कितना मिटता जा रहा है। असुंदरता

ने तुम्हें घेर रखा है। और इसके लिए आवश्यकता है, श्रद्धानिष्ठ भक्ति की; प्रभुता के प्रति, अपने अन्तरहृदय में विराजमान परम ज्योतिर्मयता के प्रति समर्पण की भक्ति तो वह श्रृंगार है, जो मन का कायाकल्प कर सकता है और फिर गीत केवल कंठ ही नहीं गाएंगे, रोम-रोम से फूट पड़ेगी रसधार। फिर तुम्हें कुछ कहना नहीं पड़ेगा, तुम्हारा जीवन बोलेगा। सामान्य व्यक्ति वाणी से बोलते हैं, पर साधकों का तो जीवन ही बोलता है। तुम मन से जुड़े हो, बुद्धि से जुड़े हो, हृदय तक पहुँच नहीं बन पाई। जब तक हृदयवान न बन जाओगे, तब तक समग्रता को उपलब्ध कर पाना कहाँ सम्भव है। फिर अगर ध्यान में बैठ जाओगे, तो भी अतिमनस् साधना की कामना नहीं रहेगी, वरन् भौतिक साधनों से जुड़ा मन भौतिकता की ही कामना करेगा, वही उसे अच्छा लगेगा।

मुझे याद है, एक मालिन और मछुआरन में गहरी दोस्ती थी। दोनों ही बाजार में एक साथ दुकान लगाकर बैठतीं। मालिन फूल बेचती और मछुआरन मछलियाँ। मालिन का घर तो बाजार के पास ही था, पर मछुआरन रोज तीन मील से चलकर आती। एक दिन बाजार से वापस निकलने में विलम्ब हो गया। मालिन ने मछुआरन से कहा कि आज ज्यादा विलम्ब हो गया, चलो मेरे घर सो जाओ। रात होती देख मछुआरन ने भी हाँ भर दी। मालिन ने मछुआरन को भोजन करवाया। सोने की उचित व्यवस्था की। मछलियों की जो टोकरी थी, उसे बाहर रख दिया। उसकी कुटिया की वाटिका में जितने खुशबूदार फूलों के जो गमले थे, मछुआरन की शैया के पास रख दिये, यह सोचकर कि मछलियों की गंध में तो रोज सोती है। क्यों नहीं, आज इसे फूलों की खुशबू में नींद का आनन्द दिलाया जाए। मालिन तो सो गई, पर मछुआरन को नींद न आई। रात आधी बीत गयी। फूलों की खुशबू उसकी नाक को इतनी अटपटी लगे कि आँख भी बंद न हो। उसने मालिन को जगाया और कहा कि मुझे नींद नहीं आ रही, मेरी मछलियों की टोकरी कहाँ है। मालिन ने कहा, अरे ! मैंने तो उसे घर के बाहर रखा है। मैंने सोचा मछलियों की दुर्गन्ध में तो तुम रोज सोती हो, आज फूलों की खुशबू में तुम्हें सुलाऊँ। उसने कहा, मैं नहीं सो पाऊँगी फूलों की खुशबू में। मेरे सिरहाने जब तक मछलियों की टोकरी न रखोगी, मुझे नींद न आएगी। आखिर मालिन मछलियों की टोकरी भीतर लेकर आई। कुछ पानी के छींटे उस पर दिये गए। कुछ उसकी गंध फैली, तो मछुआरन ठीक से सो सकी।

मनुष्य के मन की यही स्थिति है। मछलियों की गंध में जिसे जीने की आदत पड़ गई है, भला वह फूलों की खुशबू कैसे पसन्द करेगा। पावनता दो

अपने मन को। पहचान दो उसको सुवास की। संसार की अकूड़ी से मन बाहर निकले तो पहचान सके कि जीवन का स्वर्गिक सौन्दर्य क्या होता है। मन को जानो, उसे बदलो और उससे मुक्त हो जाओ। यही जीवंत धर्म है। अन्यथा मन की स्थिति उस छिद्र वाले बर्तन की तरह हो जाएगी जिसमें कुछ भी डालो, अंततोगत्वा उसमें से वापस निष्कासित होने वाला ही है। मनुष्य का मन छिद्रनुमा बाल्टी की तरह है, जिसे कुएं में डालो तो हमेशा खाली ही लौटकर आती है।

रूपान्तरित करना है मन को, दबाने से काम नहीं चलेगा, जितना इसे दबाओगे, यह उतना ही उलझता जाएगा। जैसे-जैसे तपस्याएँ करके मन को समझाने और दबाने की कोशिश की गई, वैसे-वैसे वह तो और उलझनें खड़ी करता रह गया। बड़ा धैर्य चाहिए मन को समझने के लिए। एक ही दिन में रूपान्तरित न हो पाएगा यह। एक घंटे में वेश तो बदला जा सकता है, पर मन, इसको बदलने के लिए तो एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, एक सुदीर्घ यात्रा। वहाँ छुटपुटपने से काम नहीं चलता, गुनगुनेपन से भी काम नहीं चलता। वहाँ तो चाहिए एक असीम धैर्य और सब-कुछ कुरबान करने के लिए खौलते पानी-सा जीवन। जल्दबाजी, बाहर का वैराग्य तो दे सकती है, किन्तु अन्तर्मुखी जीवन का निर्माण नहीं कर सकती।

मुझे याद है—एक व्यक्ति तंग जूते पहना हुआ चल रहा था। सामने कोई एक मसखरा मिला। उसने कहा, 'भाई जनाब! जूते काफी तंग पहन रखे हैं। क्या बात है? तुम्हारे नहीं हैं क्या?' उसने कहा, 'क्या मतलब? मेरे जूते, मैं जानूँ।' सामने वाले ने फिर कहा, 'कहाँ से लाए हो ये जूते?' वह गुस्से में तो था ही, कहा, 'पेड़ से तोड़कर लाया हूँ।' सामने वाले ने कहा कि 'भाई साहब, थोड़े और ठहर जाते, पूरे पक जाते फिर उतार लेते, तो पाँव में तंग नहीं रहते।'

अधैर्य है हमारे पास और यही अधैर्य हमें बार-बार सफलता के करीब ले जाकर वापस लौटा लाता है। ध्यान की बैठक थोड़ी गहरी लगनी चाहिए। उचटी-उचटी बैठक मुक्ति-लाभ नहीं दिला पाती। एक घंटे अगर ध्यान में बैठते भी हो, तो वह बैठक स्वयं की बैठक कहाँ बन पाती है। एक घंटे में कुछ देर शरीर की बैठक लगती है, कुछ देर मन की बैठक लगती है, विचारों की बैठक लगती है, व्यवसाय, लेखा-जोखा, ऊटपटांग कितनी बैठकें लग जाती हैं। ध्यान की बैठक, स्वयं की बैठक कहाँ हो पाती है? एक घंटे में मुश्किल से पाँच-दस मिनट हम खुद की बैठक लगा पाते हैं।

आज के संबोधि-सूत्र के पद हमारे लिए नई प्रेरणा दे रहे हैं, नए विचार दे रहे हैं। 'मन मंदिर इंसान का, मरघट मन श्मशान'—मनुष्य का मन ही उसका मंदिर बन जाता है, पावनता की लहरें जब स्वयं में उठने लगती हैं और भगवान के प्रति अतिशय भक्तिपूर्ण प्रार्थनाएँ जब उमड़-घुमड़ कर आती हैं, तब वही मनुष्य का मन मंदिर का रूप लेता है। ईंट, चूने और पत्थर के मंदिर शायद उतने चैतन्य नहीं हो पाते जितना चैतन्य मनुष्य का मन-मंदिर बन जाता है। अगर मन सुधर जाए तो 'मन ही देवता, मन ही ईश्वर, मन से बड़ा न कोय'। मन की ऐसी स्थिति घटित की जा सकती है।

'स्वर्ग नरक भीतर बसे'—मैंने अभी जिक्र किया था। मनुष्य का मन ही स्वर्ग है और मनुष्य का मन ही नरक है। नरक की तरह जीवन जीने वाला व्यक्ति मरते समय चाहे जितनी स्वर्ग की कामना कर ले या उसके बेटे-पोते कहीं पत्थर पर उसके नाम से स्वर्गीय लिखवा ले, लेकिन इतने मात्र से मनुष्य का जीवन स्वर्ग थोड़े ही बनता है। जो आज नरक की तरह जी रहा है। उसका कल भी नरक है। जो आज स्वर्ग की तरह जी रहा है। उसका कल भी स्वर्ग है। अब यह तुम्हारे हाथ में है कि तुम अपने जीवन में स्वर्ग ईजाद करते हो या नरक। 'मन निर्बल-बलवान'—मन थक गया तो शरीर थक गया। मन की बलिष्ठता शरीर की बलिष्ठता है। सत्तर साल की साधना अपने आप डिंग गई। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'—मन अगर मजबूत है, परिपक्व है, तो स्थूलिभद्र की तरह अगर चार महीने भी कोशा वेश्या के यहाँ रह जाओगे, तो भी निर्लिप्त चले आओगे। लिप्तता शरीर से नहीं जगती, वरन् मनुष्य के मन से जगती है। वासना मनुष्य के मन से जगती है। शरीर पर तो उसका प्रभाव दिखाई देता है। अगर मन सध गया तो किसी महिला के साथ किसी एकांत कक्ष में रहकर भी निर्लिप्त निकल जाओगे और मन न सधा तो लाख दूरियाँ रख लेने के बावजूद भीतर में धधकती हुई वासना की चिंगारी भी बुझा न पाओगे। मन ही मनुष्य के बंधन का कारण है और मन ही मुक्ति का। मन ही उलझाता है और मन ही सुलझाता है। मन ही तुम्हें निर्बलता देता है और मन ही बलवान बनाता है।

'मन की दुविधा गर मिटे, मिटे जगत जंजाल'। तुम यह जितनी माया देख रहे हो। यह कोई किसी के और द्वारा निर्मित नहीं, वरन् यह तो मन के द्वारा निर्मित है। मन जब सुकृत होता है तो 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' के भाव प्रकट होते हैं। और मन जब विकृत होता है तो 'जगत् सत्यं ब्रह्म मिथ्या' के भाव साकार होते हैं। मन की अपनी दुविधाएँ भी हैं। अगर स्वयं के चक्कर

में यह मनुष्य को उलझाए तो सुलझाना बड़े-बड़े मनुष्यों के बस की बात नहीं। बड़े-बड़े संतों और ऋषियों को उलझाया है इसने। किसी साधक को डिगाने के लिए कभी स्वर्ग से उर्वशियाँ थोड़े ही आती हैं। तुम्हारे भीतर की दबी उर्वशियाँ जब जगती हैं, तो वे ही तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष होती हैं। एक छोटा-सा निमित्त चाहिए मन को डिगाने के लिए। जैसे सौ मन दूध को एक काचर का बीज नष्ट कर सकता है, वैसे ही सौ साल की साधना को एक क्षण का विचलित मन भंग करने में समर्थ होता है।

मुझे याद है : एक साधक वन में तपस्या कर रहा था। चालीस वर्ष बीत गये, उसे गहन तपस्या करते हुए। इंद्र का आसन कंपित हुआ। सोचा, ओह! यही साधक अब इंद्र बनने वाला है, यानी मेरी शक्ति समाप्त। उसने किसी देवकन्या से कहा, 'जाओ और इस ऋषि के लिए ऐसा कुछ करो ताकि मेरा आसन सुरक्षित रह सके। इसकी साधना में विघ्न डालो।

देवकन्या घबराई। उसने सोचा कि यह साधक संत मुझसे पता नहीं कब रूष्ट हो जाए और मुझे अभिशाप दे बैठे, पर इधर इंद्र का आदेश मानना भी जरूरी था। आई वह पृथ्वी पर, उसी जंगल में पहुँची, एक सौन्दर्य-भरी षोडशी कन्या का रूप धारण किया। गई संन्यासी मुनि के पास और उनकी सेवा-सुश्रुषा में जुट गई। रोज इधर-उधर से फल-फूल इकट्ठे कर मुनि की सेवा में उपस्थित करती। अपने हाथों उन्हें जलपान कराती। और फिर धीरे-धीरे सेवाओं में बढ़ोतरी होती गई।

एक दिन मुनि ने सोचा कहीं मेरा मन न डिग जाए, सो एक दिन खड़े हुए और उस कन्या से कहा कि मैं तो अब हिमालय की तरफ जा रहा हूँ। कन्या मुनि के पाँवों में गिर पड़ी, सुबक-सुबक कर रोने लगी। ऋषिवर आप चले आएं, तो मेरा क्या होगा। नारी के पास आँसुओं की वह शक्ति होती है जिससे वह बड़े से बड़े साधक को भी अपनी बात मनवाने के लिए मजबूर कर देती है। मुनि का मन भी थोड़ा पिघल गया, बढ़ते पाँव थम गए। अब तो धीरे-धीरे स्नेह का बीज भी अंकुरित होने लगा। अगर दो-पाँच मिनट भी कन्या इधर-उधर हो जाए तो मुनि का मन भी न लगे। कन्या ने देखा कि मुनि का मन उससे आबद्ध हो गया है। विचलित हो गया है। एक दिन अचानक वह वहाँ से लुप्त हो गई। कुछ ही दिन बाद भगवान प्रकट हुए और मुनि से पूछा, 'बोलो क्त्स! साधना का क्या प्रतिफल चाहते हो?' संन्यासी ने कहा, 'बस यही षोडशी कन्या'। परिणाम ? साधना गिर गई और वासना जीत गई।

इसलिए कहा, 'मन की दुविधा गर मिटे, मिटे जगत जंजाल'। कभी यह कभी वह, कभी यहाँ कभी वहाँ। मनुष्य के मन की यही तो दुविधा है। पेण्डुलम की तरह अस्थिर है उसका चित्त। डॉवाडोल है उसका अन्तर्मन। मिट जाएँ अगर मन की दुविधाएँ तो साधना की आधी समस्याएँ तो स्वतः समाप्त हो जाएंगी। 'महागुफा की चेतना काटे मायाजाल' मन की दुविधाओं से मुक्त होकर अगर हम अमन दशा को उपलब्ध कर लें तो महागुफा में प्रविष्ट चेतना क्षण भर में मायाजाल को नष्ट कर सकती है। यही साधना की पूर्णता है और चरम उपलब्धि है। प्रभु करे, आपके जीवन में ऐसा कुछ सौभाग्य का सूर्योदय हो, मन का कायाकल्प हो जाए, भक्ति और ध्यान उसका श्रृंगार हो जाए, रोम-रोम से रस झर पड़े, मिट जाएँ दुविधाएँ मन की और खुल जाए द्वार मुक्ति का, यही अभिलाषा है आप सबके लिए। प्रभु करे ऐसा ही हो।

आज इतना ही।



पहचानें, निज ब्रह्म को

मैंने सुना है, सूफी फकीर हसन राबिया के घर मेहमान था। सुबह उठा, कुटिया के बाहर आया और काबा की ओर नतमस्तक हो कहने लगा, 'हे खुदा ! कितने दिनों से मैं दरवाजा खटखटा रहा हूँ, तुम अपना वचन याद करो। तुमने सन्देश दिया था; तुम जब दरवाजा खटखटाओगे, मेरा द्वार खुल जायेगा। कहो, आखिर इस द्वार का उदघाटन कैसे होगा।'

कई दिन गुजर गये, इसी तरह प्रार्थना करते हुए। राबिया रोज सुनती और भीतर ही भीतर कुछ गुनगुनाती।

एक दिन फिर सुबह हसन वैसी ही प्रार्थना कर रहा था, हाथ फैले हुए थे, आँखें भीगी हुई थीं और जोर-जोर से कह रहा था- 'हे परवरदिगार ! आप कब खोलेंगे अपने द्वार।'

राबिया जो पीछे ही खड़ी थी, हसन का सिर झिंझोड़ कर बोली, 'आखिर यह बकवास कब तक करोगे। तुम नासमझ हो, इसलिए द्वार खटखटा रहे हो। दरवाजे न तो कभी बन्द थे, न हैं। तुम खुले को खोलने की कोशिश करते हो। जलते को क्या जलाना ? तुम जिस ज्योति के दर्शन करना चाहते हो, वह तुम्हारे भीतर है। झाँको अपने हृदय में, वहाँ जो कुछ है, वही मुक्तिदायी है।'

अन्तर्दृष्टि और अन्तर्बोध जब तक उपलब्ध न हो जाए, साधक अपने जीवन में उस क्रांति-बीज का विस्फोट नहीं कर सकता, जिससे बीज में छिपा बरगद अपना अस्तित्व पा सके। बाहर के हजार-हजार सूरज तब फीके पड़ जाया करते हैं, जब भीतर का सूर्योदय हो जाता है। बाहर के हजार दीप जलाकर

भी क्या जलाया, अगर अंतर् का दीप न जला पाए। जीवन भर तक बाहर का सूर्योदय देखते रह गए तो क्या हुआ, अगर भीतर के सूर्योदय की पहचान न कर पाए तो। खोज तो की जीवन भर तक, एक वैज्ञानिक और इतिहासकार बन कर खोज की, पर अन्ततः उस खोज का परिणाम क्या आया, अगर स्वयं की खोज न कर पाए। अगर सारी दुनिया का ज्ञान प्राप्त कर भी लिया, तो उससे क्या हुआ, यदि आत्म-ज्ञान को उपलब्ध न कर पाए।

महत्वपूर्ण खोज तो स्वयं की है, महत्वपूर्ण प्रकाश स्वयं का है और महत्वपूर्ण ज्ञान भी स्वयं का है। विज्ञान और अध्यात्म का सबसे बड़ा फर्क भी यही है। हालांकि दोनों ही खोज से प्रकट होते हैं, पर विज्ञान की खोज प्रकृति से जुड़ जाती है और अध्यात्म की खोज पुरुष से जुड़ जाती है। पुरुष यानी आत्मा। अध्यात्म का उद्देश्य ही आत्मा की खोज है। अस्तित्व के उस रहस्य की खोज जो अनादि-अनन्त है। अब तक लाखों-करोड़ों मानवों ने इस राह पर कदम बढ़ाए होंगे, पर निःशेष होते निष्कर्ष रूप में हर कोई यही कह पाया कि यह जीवन, यह चेतना अनादि और अनन्त है। हजारों दफा मृत्यु की गोद में जाकर न तो यह मरती है और न ही किसी गर्भ से कभी इसका जन्म होता है। इससे सम्पृक्त मृण्मय देह का ही जन्म होता है और उसी की मृत्यु होती है। चिन्मय तो चिन्मय ही रहता है। उसका भला कैसा जन्म और कैसी मृत्यु ? शाश्वत का न तो सृजन होता है, न विध्वंस।

सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि चेतना मन, प्राण और बुद्धि के सम्पर्क में मृण्मय में उलझ जाती है और परिणामस्वरूप चेतन तत्त्व चेतन होते हुए भी चैतन्य का बोध प्राप्त नहीं कर पाता।

कुछ महामानव बढ़ते हैं स्वयं की खोज में, जीवन की खोज में, चैतन्य-केन्द्र की तलाश में और हर आत्मखोज का यही परिणाम सामने आता है कि यह चैतन्य-धारा का सतत प्रवाह है। जीवन-जगत एक सतत प्रवाह है। जिसके कि प्रारम्भ को न तो कोई जान पाया है और न ही अन्त को। कालचक्र सदा से घूमता रहा है, घूमता रहेगा। और हम उसकी गति में सतत प्रवर्तन कर रहे हैं।

निश्चित तौर पर जिन लोगों ने सत्य को जाना है, उन्होंने इसे प्रकट भी किया है। इसके बावजूद स्वयं की खोज तो आखिर स्वयं को करनी पड़ती है। इस अस्तित्व में जीवन-सत्य की हजारों महामानवों के द्वारा तलाश हुई है, घोषणा हुई है। एक के बाद एक महापुरुष मशाल थामते रहे और आगे

बढ़ते रहे। भले ही यह घोषणा कर दी गई हो कि जीवन की तलाश या अस्तित्व की तलाश अन्तहीन है, मगर इस घोषणा से आत्म-साधकों ने कभी हार न मानी और अधिक से अधिक प्रेरित हो, वे आगे बढ़ते चले गए। जो निकला है अब तक मंजिल की तलाश में, वह अन्त तक तो पहुँचा ही है।

यह जानते हुए भी कि जीवन का सत्य या जीवन का आनन्द कहीं बाहर नहीं, वरन् मनुष्य के अपने अन्तर्घट में है। आत्मा का खोजी तो करोड़ों में कोई एकाध ही पैदा हो पाता है। अधिकांश लोग जन्म लेते हैं और जीवन की एक बनी-बनाई लीक पर जीकर ही विदा हो जाते हैं।

आत्मा की खोज का नाम ही अध्यात्म है, लेकिन यदि सामान्य व्यक्ति से पूछो कि क्या तुम आत्मा के रहस्य को जानते हो? तो वह कहेगा, नहीं। उसके जीवन में मात्र भौतिक तत्त्वों के अलावा और किसी को पाने की ललक या प्यास ही नहीं है। भौतिकवादी चिन्तन, भौतिक क्रियाकलाप और भौतिक ही जीवन। एशोआराम से जीना, यही जीवन का जैसे मकसद बना लिया है हमने। जन्मों-जन्मों तक मनुष्य संसार में ही जीता रहा है और उसी की धारा को आगे बढ़ाता रहा है। जब तक व्यक्ति अन्तर्दिशा की ओर अभिमुख नहीं हो जाता तब तक उसका सारा दृष्टिकोण बहिर्मुखी ही रहेगा, अन्तर्मुखी न बन पाएगा। शरीर का पवित्रीकरण तो शायद वह कर भी ले, लेकिन चित्त में जो क्रोध, काम, लोभ की अकूड़ी जमा हो गई है। उसको हटाने या उसका विरेचन करने का उसके पास कोई उपाय न होगा। भगवान की तलाश में जीवन भर मंदिरों और तीर्थों का पर्यटन होता रहेगा, लेकिन भीतर के भगवान तक उसकी पहुँच न बन पाएगी। हम जो संबोधि-सूत्र में उतर रहे हैं, यह निज में जिन की तलाश करने की प्रेरणा दे रहा है और यह संकेत दे रहा है कि सब कुछ जानकर भी स्वयं को न जान पाए तो जीवन की सारी जानकारियाँ अधूरी रह जाएंगी।

हम रोज ध्यान करते हैं। इस ध्यान का उद्देश्य किसी भगवान के दर्शन करना नहीं है अपितु इसका उद्देश्य तो स्वयं से स्वयं का साक्षात्कार है। ध्यान का विज्ञान ही संसार से स्वयं को उपरत रखते हुए मुक्ति की परिभाषा देना है। इसलिए ध्यान जीवन का विज्ञान है। यह सिखावन हमें जीवन में ध्यान ही दे सकता है। संसार में रहते हुए भी संसार से हम कैसे अछूते और निर्लिप्त रहें, ध्यान हमें यह शिक्षा देने में सक्षम है। पत्नी के साथ रहकर, परिवार और समाज के बीच रहकर, व्यवसाय और धन से जुड़कर इन सबसे निर्लिप्त

बने रहना ही तो संसार में भगवत्ता का फूल खिलाने के लिए किया गया उपक्रम है। संसार में रहो, जीयो, लेकिन संसार से अछूते बने रहो। अपने जीवन की नौका को परम पिता परमेश्वर के श्रीचरणों में समर्पित किए रखो, तो पाओगे कि जो नौका को डुबो रहा है वही उसे वापस खेने की भूमिका निभा रहा है। जो झंझावात दे रहा है, वही जीवन की शांति भी दे रहा है। जो आग उठा रहा है वही चंदन की शीतलता दे रहा है। जो मन की बगिया को सूखी बना रहा है वही नंदनवन के रूप में उसे रूपांतरित कर रहा है। वही मिट्टी दे रहा है और वही मृण्मयता में स्वर्णिमता की घटना को घटित कर रहा है। पहुँच हो अगर हमारी भीतर के भगवान तक तो शायद हम अपने जीवन में एक ऐसा सुवासित फूल खिला सकते हैं जो कर्दम में कमल-सा सुवासित फूल खिला सके।

यों तो मेरा तन माटी है, तुम चाहो कंचन हो जाए।

तृषित अधर कितने प्यासे हैं, तृष्णा प्रतिपल बढ़ती जाती,
छाया भी तो छूट रही है, विरह दुपहरी चढ़ती जाती।
रोम-रोम से निकल रही है, जलती आहों की चिनगारी,
यों तो मेरा मन पावक है, तुम चाहो चंदन हो जाए।।

मेरे जीवन की डाली को, भाई कटु शूलों की माया,
आज अचानक अरमानों पर, सारे जग का पतझड़ छाया।
असमय वायु चली कुछ ऐसी, पीत हुई चाहों की कलियाँ,
यों तो सूखी मन की बगिया, तुम चाहो नंदन हो जाए।।

अब तो सांसें का सरगम भी, खोया-खोया सा लगता है,
अनगिन यत्न किए मैंने पर, राग न कोई भी जगता है।
तार भीड़ में खिंचने पर भी, स्वर संधान नहीं हो पाता,
यों तो टूटी-सी मन वीणा, तुम चाहो कम्पन हो जाए।।

मेरा क्या है इस धरती पर, सिर्फ तुम्हारी ही छाया है,
चाँद-सितारे तृण तरु-पल्लव, सिर्फ तुम्हारी ही माया है।
शब्द तुम्हारे, अर्थ तुम्हारे, वाणी पर अधिकार तुम्हारा,
यों तो हर अक्षर क्षर मेरा, तुम चाहो वंदन हो जाए।।

परमपिता परमेश्वर के प्रति यह समर्पण की भावना है और ध्यान की बैठक लगाने से पहले या उसकी गहराई में उतरने से पहले यह जरूरी है कि व्यक्त

के अन्तर् हृदय में यह समर्पण घटित हो जाए। 'निश्चय तौर पर मैं एक खोटा सिक्का हूँ' लेकिन तुम्हारे चरणों में आकर तो खोटा सिक्का भी खरा ही बन जाएगा। यह समर्पण ही मनुष्य को ध्यान की धारा में बहने के लिए सहायता देता है। संबोधि-सूत्र के आज के पद हमें एक ओर भीतर में विराजमान प्रभुता का संकेत देते हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मबोध के अभाव में संसार बोध को नगण्य घोषित करते हैं। आज के संबोधि-सूत्र के पद हैं—

जग जाना पर रह गये, खुद से ही अनजान।
 मिले न बिन भीतर गये, भीतर का भगवान।।
 समझ मिली तो मिल गयी, भवसागर की नाव।
 बिन समझे चलते रहे, भटके दर-दर गाँव।।
 मोक्ष सदा सम्भव रहा, मोक्ष मार्ग है ध्यान।
 भीतर बैठे ब्रह्म को, प्रमुदित हो पहचान।।

'जग जाना पर रह गये खुद से ही अनजान।' सारे संसार को जान लिया, पर अपने आपसे अनजाने रह गये तो जानकर भी क्या जाना ? आत्मबोध ही तो जीवन की वह परम घटना है जहाँ से अध्यात्म का आदि और अन्त है। बिना आत्मबोध के तो सौ-सौ बार संन्यास भी ले लिया जाए तो भी वह संन्यास जीवन के कायाकल्प में मददगार नहीं बन सकता है। ध्यान स्वयं के प्रति, निजता के प्रति सजग होने का उपाय है। पता है, जब महावीर ने अभिनिष्क्रमण किया था तो वे तीन ज्ञान के धारक थे। कहाँ क्या घटित हो रहा है इसका उन्हें बोध था। तुम्हारे मन की बात जानने में वे तब भी सक्षम थे, इसके बावजूद उन्हें लगा कि भले ही व्यक्ति अखिल ब्रह्माण्ड का भी ज्ञाता क्यों न हो जाए, लेकिन स्वयं का ज्ञाता न हो पाया, तो उसका ज्ञान अधूरा है।

स्वयं को जानने का मतलब कोई आईने के सामने जाकर चेहरा नहीं देखना है। स्वयं को जानने का तात्पर्य है अपने आपको जानना, उस अपने आपको जो इस शरीर में रहते हुए भी इस शरीर के पार पहुँच सकता है। महावीर बारह वर्षों तक जंगल में साधना करते रहे। क्या किया उन्होंने साधना में ? अपनी चित्तवृत्तियों के प्रति वे सजग बने। साधना की सिद्धि कोई चमत्कार की उपलब्धि में नहीं है। उसकी सिद्धि तो स्वयं की उपलब्धि में है। अगर बारह वर्ष तक साधना करके उसका परिणाम पानी में चल सकने की क्षमता उपार्जित करना है तो पानी में तो नाव भी चल लेगी और तुम्हें उस पार पहुँचा देगी।

योगी आनन्दघन श्मशान में साधना कर रहे थे। एक दिन एक व्यक्ति आया और उनके हाथ में एक बोतल थमाई। कहा, 'आपके मित्र फकीर इब्राहिम ने आपके लिए स्वर्ण-सिद्धि रसायन भेजा है। उन्होंने बारह वर्ष तक तपस्या करने के पश्चात् इस रसायन को प्राप्त किया है और इसका कुछ भाग उन्होंने आपको मित्रतावश भेजा है।'

पता नहीं क्यों, आनन्दघन ने बोतल ली और पास पड़े पत्थर पर इस कदर फेंक दी मानो वह पानी की बोतल हो। कुछ ही पल में जहाँ-जहाँ रसायन बहकर गया, वह स्थान स्वर्ण में रूपान्तरित हो गया।

आगन्तुक आनन्दघन के इस व्यवहार से काफी क्षुब्ध हुआ। कहा, 'लोग आपको ज्ञानी कहते हैं, पर आप मुझे मूढ़ दिखाई देते हैं। आपने न केवल एक मित्र का अपमान किया है, बल्कि प्राप्त अमूल्य रसायन को ठुकराया भी है।'

आनन्दघन के चेहरे पर पुनः मुस्कान उभर आई। वे कुछ दूरी पर गये, वहाँ पेशाब किया। जहाँ पेशाब किया वह स्थान सोने में रूपान्तरित हो गया।

आगन्तुक ने दाँतों तले अँगुली दबा ली। आनन्दघन ने कहा, 'बन्धु ! इब्राहिम को जाकर कहना, जिस रसायन की सिद्धि के लिए उसने बारह वर्ष तक साधना की, काश ! वही साधना आत्म-सिद्धि के लिए करता। अगर ऐसा किया जाता तो वह उस सिद्धि के करीब होता, जहाँ सभी लौकिक सिद्धियाँ शर्म से झुक जाती हैं।'

आनन्दघन जैसा साधक, उसके लिए साधना के द्वारा बाहर की उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं है, अगर मूल्य है तो भीतर के रसायन का है। अगर पत्थर को सोना बना भी लोगे अपनी किसी साधना की सिद्धि से तो आखिर वह सोना भी तो मिट्टी ही है। बीस साल साधना की और काली मिट्टी को चमकीली बना दी तो मानकर चलो कि तुम्हारी साधना चिन्मयता के लिए नहीं बल्कि मृण्मयता के लिए हुई।

'जग जाना पर रह गए, खुद से ही अनजान।' बात महत्वपूर्ण है। भगवान बुद्ध जो 'अप्पदीवो भव' की प्रेरणा देते हैं उसके पीछे भी तो मूल लक्ष्य यही है कि व्यक्ति आत्म-बोध को उपलब्ध करे, अपना दीप स्वयं बन जाए। मंदिरों के दीप कभी बुझ भी जाते हैं और मस्जिद के फानूस भी। लेकिन भीतर के दीप को तो दुनिया की कोई शक्ति नहीं बुझा सकती। साधुक्कड़ी मस्ती के

सामने सिकंदर की शक्ति भी नाकाबिल घोषित हो जाती है। हम मूर्च्छा से बाहर आएँ, सपनों से जगें और चित्त के प्रति सजग अवस्था को उपलब्ध करें।

‘मिले न भीतर गए, भीतर का भगवान।’ बात काफी महत्वपूर्ण है। भगवान शब्द को हम जरा बड़ा बारीकी से समझ लें। सम्पूर्ण अस्तित्व में व्याप्त शब्द है यह। भगवान का ‘भ’ भूमि है। उसका ‘ग’ गगन है। उसका ‘वा’ वायु का प्रतीक है, ‘न’ नीर का प्रतीक है और उसका हलन्त अग्नि का प्रतीक है। इन पंच महाभूतों पर ही तो अस्तित्व टिका हुआ है। इन पंचमहाभूतों के सम्मिश्रण से जो देह निर्मित होती है उस देह में रहने वाली ज्योतिर्मयता ही भगवान का मौलिक अस्तित्व है। शरीर पंच महाभूतों की संरचना है और इस शरीर के पार जाना पंचमहाभूतों से उपरत होकर उस मौलिक आत्मा तक पहुँचना है—

ना मैं मंदिर, ना मैं मस्जिद,
ना काबा, ना कैलास में,
खोजहिं हों तो, तुरत ही मिलिहों,
मैं तो तेरे पास में,
सब साँसों की साँस में।

‘समझ मिली तो मिल गई, भवसागर की नाव।’ बात महत्वपूर्ण है। यहाँ समझ का मतलब अन्तर्विवेक से है। होश, जागरूकता और बोध से है। बिना समझ के हम चाहे जो कुछ करते रह गए, वे सब अंधेरे में हाथ मारने के समान होंगे। जो कुछ करो, समझपूर्वक करो, बोध और विवेकपूर्वक करो। खाओ, पीओ, उठो, बैठो, जो कुछ करो, तुम्हारे कोई पाप का बंधन नहीं होगा, अगर बोध और समझ का दीप तुम्हारे हाथ में है तो।

‘बिन समझे चलते रहे, भटके दर-दर गाँव।’ बिना होश के तो जीवन अगर चलता भी रहा, बस, जी लिए। जन्मों-जन्मों से जीवन जीया है, लेकिन हर जन्म बेकार ही गया। सैकड़ों-सैकड़ों दफा संन्यास भी लिया होगा, पेड़ पर औंधा लटककर साधना भी की होगी, एक पाँव पर खड़े रहकर साधना की होगी, केशों का लुंचन भी किया होगा, कभी दिगम्बर भी बन गए होओगे, लेकिन इसके बावजूद ‘यह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो’—खाली के खाली रहे, सब कुछ करके भी।

‘मोक्ष सदा संभव रहा, मोक्ष मार्ग है ध्यान।’ बड़ा महत्वपूर्ण पद है यह संबोधि-सूत्र का। नयी क्रांति को जन्म दे रहा है यह। अगर बंधन हो सकता

है आज तो मुक्ति क्यों नहीं हो सकती। तुम जो मुक्ति की परिभाषा समझते हो आज, तो वह अलग बात है। संबोधि-सूत्र का जो मोक्ष है वह तो जीवन-मुक्ति की बात कह रहा है, क्योंकि यह मुक्ति ध्यान के द्वारा निष्पादित होती है। ध्यान का लक्ष्य ही मुक्ति है। ध्यान का लक्ष्य कोई उपलब्धि नहीं, अपितु मुक्ति ही है। बगैर मुक्ति के ध्येय का ध्यान हमें लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता। हमारा लक्ष्य बड़ा स्पष्ट रहना चाहिए। ध्यान की मस्ती में अगर मृत्यु होती है, इसी का नाम तो मुक्ति है। मुक्ति कोई जाने की चीज नहीं है, जीने की चीज है। जी भर कर जीओ इसे।

यों तो व्यक्ति हर क्षण मर और जी रहा है। सांस लेना जीवन है और सांस छोड़ना मृत्यु है, लेकिन वह मृत्यु व्यक्ति के जीवन को अमरत्व देती है जो ध्यान और होश से जुड़ी रहती है।

जीवन-मुक्ति के पाँच चरण हैं—एक साक्षीत्व के किनारे बैठो। भीतर या बाहर घटित होने वाली घटनाओं के केवल साक्षी और दृष्टा बने रहो। अपने तृतीय नेत्र को जाग्रत करो और उसी में लीन हो जाओ। दूसरा चरण है—अन्तस् के आकाश को खोज लो। इसे हम शब्द देंगे निर्विकल्पता। जैसे आकाश विकल्पातीत होता है, वैसे ही अपने चित्त को निर्विकल्प कर दो। तीसरा चरण है—विषयों की अनुपस्थिति का अनुभव करो। यह है विदेह होकर जीने की कोशिश। देह के गुण-धर्म तुम्हें लक्ष्य तक प्रभावित करते रहेंगे, लेकिन गुण-धर्मों के प्रति अन्तरजागरूकता बढ़ाओ और उनसे मुक्त होने का प्रयास करो। चौथा चरण है समग्र अस्तित्व से प्रेम करो यानी सम्पूर्ण पृथ्वी पर परमात्म-भाव से जीने की कोशिश करो। तुममें भी प्रभुता है और औरों में भी प्रभुता है। सर्वत्र प्रभुता को स्वीकार करो, अपने अन्तर्मन में पलने वाली स्वार्थ भावना को मुक्त करो और विश्व बंधुत्व के भावों को जीवित करो। पाँचवां चरण है—हर हाल में मस्त रहो। यह मुक्ति की अनुभूति से जुड़ा है। सुख-दुख, सम-विषम, हानि-लाभ, सम्मान-अपमान सबमें एकरूपता। जो होना है, सो हो रहा है। जिसे नहीं होना है वह नहीं हो रहा है। मैं तो अपनी मस्ती में मस्त रहूँ। ऐसे भावों को प्रकट कर स्वयं को मुक्त अनुभव करो।

‘भीतर बैठे ब्रह्म को प्रमुदित हो पहचान’—ईश्वर को या परमात्म तत्त्व को उपलब्ध करना ज्यादा कठिन काम नहीं है और न ही कहीं और उसकी तलाश के लिए जाना पड़ता है। तुम जिसे निकट मानते हो, वह तो दूर-से-दूरतम है।

तुम्हारा संसार तुमसे दूर है, तुम्हारा परिवार, पति, पत्नी, बच्चे ये सब भी तुमसे काफी दूर हैं। और तो और तुम्हारे देह की भी तुमसे दूरियाँ हैं, पर 'वह' तुमसे उतना भी दूर नहीं है जितनी देह है। देह तो फिर भी परतत्त्व है, पर वह महाचेतना तो स्वतंत्र है, पर तो पर ही है और स्व स्व ही है।

हमारे यहाँ सबसे बड़ी दिक्कत है कि हमें धर्म की व्यवस्थाओं के नाम पर स्वर्ग-नरक के नक्शे दे दिये गये या ईश्वर को पाने के नाम पर अरबों-खरबों खर्च भी हो गए, पर न तो नक्शे मुक्ति दे पाते हैं और न ही धन का व्यय ईश्वर को उपलब्ध करा सकता है।

सच्चाई तो यह है कि लोगों ने ईश्वर प्राप्ति को कठिन बताकर धन कमाया है। जो सरल से सरलतम है भला उसे कठिन-से-कठिनतम क्यों घोषित किया जाए।

ईश्वर को कठिन बनाने का परिणाम यह निकलकर आया कि जो विनम्र लोग थे उन्होंने ईश्वर प्राप्ति को दुर्लभतम मानकर उस ओर कोई विशेष प्रयास नहीं किया और अहंकारी कभी प्रभुता को पा ही नहीं सकता। 'लघुता में प्रभुता बसै, प्रभुता से प्रभु दूर' अहंकार दूरी है प्रभु से।

अगर हम चाहते हैं कि भीतर के भगवान को हम उपलब्ध करें तो उसके लिए पहली आवश्यकता है, इस सत्य को स्वीकार करें—ईश्वर सहज है, सरल है। उसका अस्तित्व मेरे भीतर है और मैं उसे अहोभाव से स्वीकार कर रहा हूँ। भला मछली जो सागर में ही जी रही है, वह अगर जीवन भर तक सागर की तलाश करती रहे तो वह कैसे पा सकेगी सागर को। सागर की मछली को सागर की तलाश नहीं करनी है, अपितु उसका बोध प्राप्त करना है। मछली का यह खोजना ही हास्यास्पद है—'सागर कहाँ है', तुम हो, और बिना सागर के तुम हो नहीं सकती।

जैसे सूर्य की किरणें सूर्य की तलाश करे, खोज करे कि सूर्य कहाँ है, तो हास्यास्पद लगता है। किरणें जिसके बलबूते पर है, जिससे उद्भूत है, वही तो सूर्य है। भला सूर्य और किरणें अलग-अलग कैसे हो सकती हैं।

'भीतर बैठे ब्रह्म को प्रमुदित हो पहचान'—पहचान करो अन्तर्ब्रह्म की, जगत के मिथ्या भाव से मुक्त होकर, शरीर की रागात्मक वृत्तियों से ऊपर उठकर, शुचितापूर्ण भाव से अपने अन्तर्हृदय के कमल को खिलाओ और ध्यान की बैठक में परमब्रह्म को हृदय-कमल में विराजमान करने की कोशिश करो। आज के इन पदों का यही सार है।

कुछ अच्छी-सी बातें आज प्रवचन के माध्यम से आप लोगों को सुनाने का अवसर मिला। उसके लिए मेरे हृदय में प्रसन्नता है। प्रभु करे, हम अपने जीवन के साधना-मार्ग में बढ़ते हुए उस चरम बिन्दु का स्पर्श पा लें जहाँ मुक्ति की किलकारियाँ, जहाँ अदृश्य और अज्ञात के द्वार अपने आप खुल जाएँ, वह जगत प्रकट हो जाए जो हमें आँखों से दिखाई नहीं देता, उस संगीत का रसास्वादन कर पाएँ जिसे हम कानों से नहीं सुन पाएँ। जैसे पहाड़ों के झरने सागर और नदियों की ओर बहन को उत्सुक होते हैं हमारी ऐसी ही उत्सुकता प्रभुता की ओर बनी रहे। आप सबके अन्तर्घट में विराजमान परम पिता परमेश्वर की ज्योति को अशेष प्रणाम। आज के लिए इतना ही।

ॐ शान्ति !



सद्गुरु बांटे रोशनी

गौतम बुद्ध के समय की घटना है कि एक युवक को उनके पास ले जाया गया। वह युवक जन्मांध था और उसे विश्वास था कि प्रकाश है ही नहीं। सब लोग समझाते कि तुम देख नहीं सकते, इसलिए प्रकाश तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। वह कहता कि 'मुझे प्रकाश का स्पर्श करा दो, उसकी गंध सुंघा दो, उसकी ध्वनि ही सुना दो या फिर उसका स्वाद ही चखा दो।' प्रकाश की गंध, स्पर्श, ध्वनि या स्वाद नहीं होता, फिर उसे अनुभव कैसे कराया जाये। लोग उसे समझाते, लेकिन उसका भ्रम नहीं टूट पाया। भगवान बुद्ध से पूछा गया कि इसकी समस्या का समाधान कैसे हो? भगवान ने कहा—इसकी दृष्टि, चिकित्सा कराओ। इसके भीतर प्रकाश की प्यास है और यह जरूर प्रकाश उपलब्ध करेगा। उस युवक को चिकित्सक के पास ले जाया गया। बुद्ध के कथनानुसार इलाज करवाया गया। छः माह के उपरान्त वह युवक देखने योग्य हो गया। उसकी आँखें ठीक हो गईं।

वह शीघ्रता से बुद्ध के पास पहुँचा। उन्हें प्रणाम किया। भगवान ने पूछा, "युवक ! बोलो, तुम्हें प्रकाश देखना है, उसे सूंघना है, चखना है या स्पर्श करना है ?" युवक ने कहा, भगवन्, क्षमा करें। भीतर अंधेरा था, इसलिए अंधेरा ही दिखाई देता था। जब से ज्योति मिली है, सब कुछ ज्योतिर्मय हो गया है।

सद्गुरु जीवन में इतना ही काम करते हैं। जब-जब हम अंधकार में होते हैं, अन्तरमन में भ्रांतियों का जाल होता है, तब-तब सद्गुरु प्रकाश की किरण दिखाते हैं, हमें भ्रांतियों से मुक्त करते हैं। मनुष्य इस जगत् में जो जीवन जी रहा है, वह उसके द्वारा फैलाई गई भ्रांतियाँ हैं। इसीलिए वह इस

परिवर्तनधर्मा को ही शाश्वत मान लेता है। सच पूछो तो हमारी बुद्धिमत्ता भी हमारी भ्रांति ही है। जगत् तो बाहरी आँख का विस्तार है और परमात्म-तत्त्व अन्तर की आँख से दिखाई देता है। हमारी पाँचों इन्द्रियों की अनुभूति हमारे द्वारा निर्मित भ्रांतियों का जाल है, उन्हीं के साथ हमने तादात्म्य भी स्थापित कर लिया है। हमें इस जाल से, इस तादात्म्य से मुक्त होना है, तभी हम अपने चैतन्य छिपे परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार कर पाएंगे। अगर कोई कहे कि पृथ्वी के अन्तस्तल में पानी है और कहे कि दिखाओ, तो नहीं दिखाया जा सकता। पृथ्वी में छिपे हुए जल को देखने के लिए ऊपरी मिट्टी को, पत्थरों को हटाते हुए गहरी खुदाई करनी होती है। गहरे और गहरे जाकर ही पानी का स्रोत मिल पाएगा। ठीक ऐसे ही विचारों की मिट्टी, संस्कारों के पत्थरों को हटाते हुए मन की परतों को उधेड़ते हुए जब अन्तर्जगत् में प्रवेश होता है, तब ही चेतना से मिलन हो पाता है। इस चेतना को पाने के लिए अपने आसपास एकत्रित मानसिक, दैहिक और जागतिक प्रवृत्तियों को हटाना होगा। संसार की सम्मोहन-शक्ति से मुक्त होना होगा।

हमारी चेतना तो कुएं के समान है, जो अपने अंदर ही शक्ति उपलब्ध करती है। कुएं में बाहर से पानी नहीं भरना पड़ता, अंदर ही झरता है। चेतना भी अन्तर्मुखी है और अन्तस् में ही उसके अस्तित्व का रहस्य है।

मेरे देखे तो जीवन जलती हुई गीली लकड़ी की तरह है जिसमें अग्नि कम और धुआँ अधिक है। मनुष्य अपनी वासना की, कषाय की, मानसिक संत्रास की आर्द्रता से घिरा हुआ है, जो अपनी पूर्ति के लिए धुआँता रहता है। रह-रहकर यह आर्द्रता, यह गीलापन मनुष्य को आंदोलित करता है और जीवन इसी की आपूर्ति के धुएँ से भरा रहता है। जब तक यह तृष्णा का धुआँ है तब तक जीवन जलती हुई ज्योति नहीं बन सकता। जीवन-ज्योति कैसे बन जाए ? यह सिखाएगा ध्यान। ज्योति जगाने के लिए ध्यान का आलम्बन लेना होगा। ध्यान वह साधन है जो इस आर्द्रता को ऊष्मा प्रदान करता है और उसे सुखा देता है और तब जो उपलब्ध होता है वह है निर्धूम ज्योति। चेतना की ऊर्जा-अग्नि।

हमें यह भ्रांति दी गई है कि मुक्ति मिलने पर चेतना का दीया प्रज्वलित हो जाता है। पूछा जाता है कि मुक्ति के पूर्व और मुक्ति के पश्चात् का फर्क क्या है, तब इस विशेष भ्रांति का निर्माण हुआ। जबकि सच्चाई यह है कि चेतना का दीया तो सदा से प्रज्वलित है। हमारे प्राणों में संचार ही चेतना

की जीवन्तता है। फिर साधना की उपलब्धि क्या, मुक्ति की पहचान क्या, निर्वाण का अर्थ क्या। सांसारिक प्रवृत्तियों में रत व्यक्ति की चेतना का दीपक धुएँ से भरा रहता है और निर्वाण को उपलब्ध व्यक्ति की चेतना शुद्ध चेतना रह जाती है। निर्वाण का अर्थ ही है जिसकी चेतना वाण अर्थात् वासना से मुक्त हो गई। हमने कामदेव को वाण की संज्ञा दी है। क्यों? क्योंकि वह अपने बाणों से मनुष्य को बांध कर रखता है। काम से मुक्त होना निर्वाण में प्रवेश करना है।

मनुष्य में बीज के समान अपार क्षमताएँ, अपार संभावनाएँ हैं। बीज से बाहर की ओर बरगद प्रकट हो सकता है, लेकिन मनुष्य अपने बीज से क्या प्रगट करता है। बीज संभावनायुक्त तो है, लेकिन अपने भीतर नहीं झांक सकता और यह मनुष्य की ही क्षमता है कि वह अपने भीतर देख सकता है। यह भीतर देखना ही ध्यान की ओर उन्मुख होना है। अपनी संभावनाओं को जाग्रत करना बीज से बरगद हो जाना है। हमारी सारी शिक्षा और सभ्यता हमें दूसरों के बारे में जानकारी देती है, लेकिन स्वयं को जाने बिना शिक्षा अधूरी है। जिससे स्वयं की अन्तर्दृष्टि खुले, वही शिक्षा सार्थक है। स्वयं को जानने का उपाय ध्यान है। ध्यान जीवन को खिलावट और पूर्णता प्रदान करता है। हमारी चेतना में परम तत्त्व ठीक उसी तरह समाया हुआ है जैसे बीज में वृक्ष समाहित है। केवल उचित जमीन, खाद, पानी, हवा और सूर्य-किरणों के संयोग से बीज का वृक्ष अनावृत्त होता है। हमारा परम चैतन्य भी ध्यान की भावभूमि में प्रकट होता है।

लोग मुझसे पूछते हैं कि चेतना या आत्मा शरीर में कहाँ स्थित है? चींटी की आत्मा में और हाथी की आत्मा में क्या फर्क है? चेतना वास्तव में शरीर व्यापी है। उसका विस्तार पूरे शरीर में होता है। चींटी की चेतना उसके शरीर जितनी और हाथी की चेतना उसके शरीर जितनी। मनुष्य में भी चेतना पूरे शरीर में व्याप्त रहती है, तभी तो पाँव की अंगुली में पीड़ा होने पर उसका अहसास भी उतना ही तीव्र होता है जितना हृदय में या मस्तक में पीड़ा होने पर। ऐसे समझिए, एक दीपक जल रहा है, उस पर अगर गिलास ढक दी जाए तो प्रकाश कहाँ तक फैला, गिलास हटाकर लोटा ढक दें तो प्रकाश कहाँ तक जाएगा, लोटे की जगह बाल्टी ढकने पर प्रकाश का विस्तार कितना होगा, बाल्टी की जगह ड्रम रखने पर प्रकाश ड्रम तक फैल जाएगा और ड्रम के हटा देने पर पूरा कमरा ही प्रकाश से भर जाएगा। कमरे की दीवारें हटा देने पर प्रकाश का फैलाव और अधिक हो जाएगा। यह न समझना कि दीपक का प्रकाश चार-छः फीट तक ही जा रहा है, जितनी दूर आपको दीपक दिखाई

दे वहाँ तक उसका प्रकाश जा रहा है, अन्यथा दीपक आपको दिखाई न देगा। इस सृष्टि में तारे टिमटिमाते हुए दिखाई देते हैं। वे हमसे लाखों-करोड़ों प्रकाश-वर्ष दूर हैं, लेकिन ज्योति है तभी तो हमें नजर आते हैं। भले ही उनसे उजाला नहीं होता, लेकिन प्रकाश हमारी आँखों तक आ रहा है। अब तो विज्ञान ध्वनि-सम्बन्धी प्रयोग कर रहा है। हम जो भी बोलते हैं वह अस्तित्व में संग्रहित हो जाता है। हमारी ध्वनियाँ अंकित हो जाती हैं। निश्चित फ्रिक्वेंसी पर भेजी गई तरंगों को हमारे रेडियो और टीवी सैट पकड़ लेते हैं और उनकी तकनीकी तरंगों को ध्वनि और आकृति में रूपाकार कर देती है। और तो और, अब विज्ञान प्रयासरत है कि महाभारत के युद्ध में जो कहा गया उसे ब्रह्माण्ड से एकत्रित किया जाए क्योंकि ध्वनि की तरंगें आज भी विद्यमान हैं। संजय ने धृतराष्ट्र को जो आँखों देखा हाल सुनाया था वह और कुछ नहीं, ध्वनि और आकृतियों की परातरंगों जो सम्पूर्ण विश्व में विस्तीर्ण हो रही थीं, जिन्हें संजय देख-सुन पाए और धृतराष्ट्र को बता सके।

यह प्रश्न है कि केवल संजय ही उसे क्यों पकड़ पाए? स्वयं धृतराष्ट्र को यह अनुभूति क्यों नहीं हुई या अन्य कोई व्यक्ति यह कार्य क्यों नहीं कर सका? तो इसका एकमात्र कारण है संजय की चेतना ने वह अन्तर्दृष्टि पा ली थी जो हर प्रकार की संवेदना ग्रहण कर सकती थी। धृतराष्ट्र तो मोहांध थे और अन्य भी उस उच्चता को उपलब्ध नहीं हो पाए थे जो उच्चता, निष्कलुषता, पवित्रता और निर्मलता संजय के पास थी।

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर के संदेशों को एक दिन उन्हीं की आवाज में सुना जा सकेगा। विज्ञान स्वीकार कर चुका है कि सभी की ध्वनियाँ अस्तित्व में विद्यमान हैं। महावीर ने भी माना था कि चेतना की ध्वनि ब्रह्मांड में शाश्वत रूप से मौजूद रहती है, और अब विज्ञान भी खोज कर रहा है। वह दिन दूर नहीं है जब विज्ञान उन ध्वनियों को उपलब्ध करा देगा।

संबोधि-सूत्र के पद बड़े जीवन्त हैं। सूत्र जिसने रचा, उसने आकाश में व्याप्त उन अदृश्य-ध्वनि-तरंगों को ग्रहण किया होगा। इसलिए संबोधि-सूत्र वास्तव में अध्यात्म की संजीवनी है, कुंजी है।

ध्यान की यात्रा में मनुष्य के विचार, बुद्धि और शरीर से अलग होकर इनके भीतर छिपी हुई दिव्यता को पाना है। जो ध्यान की यात्रा से गुजर जाता है वह अपने ही भीतर छिपे हुए अमृत जल को प्राप्त कर लेता है।

कूप ऊपर का पानी लेना न चाहता,
 अन्तर के झरनों से खुद भर जाता।
 व्यर्थ के विकल्पों में गोते न खाए,
 अपने को पहले बिल्कुल खाली बनाए।

कूप, बाहर से पानी भरा जाएगा, इसकी कभी अभिलाषा नहीं करता। उसके अंदर ही पानी का भराव होता रहता है। इसी तरह ध्यान-साधना की ओर अग्रसर व्यक्ति ही जानता है कि वह परमात्म, दिव्य-चेतन तत्त्व उसके अंदर विराजमान है। उसे बाह्य साधन नहीं, अन्तर का मार्ग चाहिए। 'संबोधि-सूत्र' कहता है—

मनोभाव अन्तरदशा, समझ सका है कौन,
 बोले वह समझे नहीं, जो समझे सो मौन।।
 सद्गुरु बांटे रोशनी, दूर करे अंधेर,
 अंधों को आँखें मिलें, अनुभव भरी सवेर।।
 प्रज्ञा-पुरुष प्रकाश दे, अन्तर्दृष्टि योग,
 समझ सके जिससे स्वयं, मन में कैसा रोग।।

मनोभाव अन्तरदशा समझ सका है कौन ? साधक पूछ रहा है कि चेतना ने क्या पाया या उसमें कैसा रूपान्तरण हुआ, यह कोई नहीं समझ सकता। किसमें ऐसा रूपान्तरण हुआ है कि वह अपने अंदर उठने-चलने वाली प्रवृत्तियों को पहचान सके। जब तक भाव-विशुद्धि नहीं होती, चेतना मुक्त नहीं हो सकती। बाहर की सफाई तो तुम कर लोगे, पर विचारों की शुद्धता कैसे ज्ञात हो। अभी मैं आपको संबोधित कर रहा हूँ, लेकिन मेरी अथवा अपनी-अपनी मनोदशा को आप नहीं जान सकते। और मनुष्य की मनोदशा निमित्त पाकर क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है। और ये मनोदशा ही है कि व्यक्ति चाहे हिमालय की गुफा में चला जाए, तपस्याएँ कर ले, लेकिन कुछ भी हासिल नहीं कर पाता। उसकी विचार-तरंगें उत्तुंग शिखर से क्षण भर में जमीन पर गिरा देती हैं।

एक बिल्ली अपने बच्चे को और चूहे को दांतों के मध्य दबाकर दौड़ती है, लेकिन क्या दोनों समय एक जैसी मनोदशा होती है? नहीं, एक की तो वह रक्षा करती है, दूसरे को मारने के भाव होते हैं। स्थितियाँ एक जैसी हैं, लेकिन मनोभाव एकदम विपरीत। हम स्वयं की ओर भी देखें। अभी तो हम प्रेम से भरे हुए हैं, लेकिन निमित्त बदलते ही तुरन्त क्रोध में कैसे भर जाते हैं। ये अनुभव तो आपको भी हुए हैं, लेकिन इनमें बदलाव लाने का कभी प्रयास

नहीं किया। ध्यान की साधना आपको स्थितप्रज्ञ बनाती है। आपकी जागरूकता जगाती है। आप अपनी अन्तर्भावना और मनोदशा को पहचान सकने में समर्थ हो पाते हैं।

हमारे मनोभाव इतने क्षीण हैं कि वर्षों का प्रेम क्षण में डगमगा जाता है। फिर इसे प्रेम भी कैसे कहा जा सकता है? वह तो स्वार्थ ही प्रतीत होता है। ऐसा हुआ : एक बार दीपावली पर्व पर घर की साफ-सफाई हो रही थी। पति महोदय कुछ पुरानी पुस्तकें देख रहे थे। उनमें पत्नी के नाम तीस वर्ष पुराना पत्र मिल गया। उन महोदय का सारा अनुराग वर्षों के साथ सब धुल गया। वे लौट गए तीस वर्ष पहले और पत्नी बेचारी क्या सफाई दे? यह है मनोभाव जिसका अब कुछ लेना-देना भी नहीं है, वही तुम्हें व्यथित कर देता है।

मनोभाव और अन्तर्दशा बदल जाए तो गृहस्थ भी संन्यासी हो सकता है, अन्यथा अस्सी वर्ष का मुनि भी गर्त में गिर सकता है। मनोदशाओं के परिवर्तन के साथ वह निर्मल और पवित्र रह सकता है। भगवान कहते हैं तुम कभी किसी की मनोदशाओं को नहीं पहचान सकते। तुम बाहर से देखकर किसी को प्रणाम करोगे, बाहर से तुम उसे संत मानोगे, लेकिन नहीं जानते कि उसकी अन्तर्दशा संस्कारित है या विकृत ! और कुछ ऐसे गृहस्थ हैं जो रंगीन परिधानों में भी निष्कलुष जीवन जी रहे हैं। फर्क मनोदशाओं का है, फर्क भावनाओं का है, फर्क भीतर के रूपान्तरण का है। जब आन्तरिक मनोदशा बदलती है, तो एक साधक, जो चालीस वर्षों से निरन्तर साधना कर रहा है, समता-वृत्ति में जी रहा था। एक छोटा-सा क्षण भर का क्रोध का निमित्त पा लेने के कारण मनोदशाएँ बदलती हैं और वह तापस जीवन की सांध्य वेला में मनोदशाओं और भावनाओं के बदल जाने के कारण अगले जन्म में चण्डकौशिक सर्प बनता है। इसलिए मात्र वेश-परिवर्तन कर मुनि बनने की बजाय अपनी भावदशा, मनोदशा में रूपान्तरण कर चेतना की दिव्यता प्राप्त करना ज्यादा लाभकारी है।

आज के सूत्र यही संदेश दे रहे हैं कि जब तक भावदशा का विशोधन नहीं होता, मनोदशा शुद्ध नहीं होती तब तक संबोधि उपलब्ध नहीं हो पाएगी। भावदशा के बाहर जाने पर संसार निर्मित होता है और भावदशा के भीतर मुड़ने पर समाधि का मार्ग प्रशस्त होता है। समाधि की यात्रा में होने वाले अनुभव वर्णनातीत हैं। और जिसने इन अनुभवों को पाया, वे मौन हो गए। उनके शब्द उस सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कम हो गए। वहाँ मामला नेति-नेति का हो गया। बुद्ध पुरुषों ने कहने का प्रयास भी किया, कहा भी, लेकिन पूर्ण

सत्य कभी नहीं कहा जा सका। वह तो गूंगे केरी सर्करा हो गई। सत्य अव्यक्त ही रहा। जितना बोला गया उसकी रहस्यमयता और गहन हो गई। वह कह-कह कर भी नहीं कहा गया। मौन ही उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।

भगवान बुद्ध अपने शिष्यों के साथ विचरते थे। सभी को जीवन के सत्य के बारे में जानने की उत्सुकता थी। भगवान प्रवचन करते, पर सत्य पर चर्चा नहीं करते। उनके शिष्य ध्यान-साधना भी करते, पर कोई उस स्थिति में नहीं पहुँचा था जहाँ सत्य का आविर्भाव हो सके। एक दिन भगवान ने स्वयं ही सत्य के संदर्भ में चर्चा शुरू की और शिष्यों से पूछना प्रारम्भ किया कि सत्य क्या है? अस्तित्व का क्या रहस्य है? अब तो शिष्यों की बन आई। लगे सब अपना-अपना ज्ञान बघारने। ऐसा होता है जब हमें किसी बात की जानकारी होती है तो हम अधिक से अधिक बोलकर अपना अहं तुष्ट करते हैं। बस, प्रभु एक-एक से पूछते रहे, जिसे जितनी जानकारी थी सबने उगल दी। लेकिन प्रश्न का निराकरण न हुआ। तब उनकी नजर कोने में बैठे हुए युवा भिक्षु पर गई। वह अभी-अभी संघ में शामिल हुआ था। सारे भिक्षु सीनियर थे, इसलिए वह चुप बैठा सबकी बातें सुन रहा था। संकोची स्वभाव का इतने लोगों के बीच क्या कहे? तब प्रभु ने उसकी ओर देखकर आँखों ही आँखों में अपना प्रश्न दोहराया। वह युवा भिक्षु उठा और जाकर बुद्ध के चरण स्पर्श किए और वापस जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। बुद्ध ने उसे गले लगा लिया और कहा, तुमने मुझे सही उत्तर दिया।

सारे भिक्षुक आश्चर्यचकित। एक शब्द इस नवागन्तुक ने कहा नहीं और भगवान कहते हैं उत्तर दे दिया। तब भगवान ने कहा मौन ही सत्य की अभिव्यक्ति है। जिसने जाना वह मौन हो गया। जब सत्य से साक्षात्कार हो जाता है तो वाणी में मौन और आनन्द-भाव अवतरित हो उठता है।

आगे बढ़ें—

सद्गुरु बांटे रोशनी, दूर करे अंधेर,
अंधों को आँखें मिले, अनुभव भरी सवेर।

हर मनुष्य को जीवन में किसी-न-किसी गुरु की तलाश रहती है। चाहे वह नेता हो या अभिनेता, सेठ हो कि नौकर, सम्राट हो कि फकीर सब किसी गुरु की तलाश में रहते हैं जो उन्हें जीवन में राह दिखा सके। यह बात अलग है कि उनके उद्देश्य भिन्न होंगे, पर वे चाहते जरूर हैं कि उन्हें कोई गुरु मिल

जाए जिसके सहारे उनकी जीवन नैया पार हो जाए। कभी किसी को नसीब से ही सच्चा गुरु मिल पाता है जो जीवन के रहस्यों का भेदन कर पाए।

यह तन विष की बेल है,
गुरु अमृत की खान।
शीश कटे और गुरु मिले,
तो भी सस्ता जान।।

देह तो विष की लता है, गुरु का अमृत इसे सींचे तो ही तन विष से निर्विष हो सकता है। गुरु तो अनमोल है, अमृत है। निश्चय ही, सद्गुरु का संयोग सौभाग्य से ही होता है। पत्नी, पुत्र, पैसा, पद, प्रतिष्ठा—ये सब आसान हैं, पर गुरु तो अगर शीश का बलिदान देकर भी मिल जाएं, तो भी कबीर तो कहते हैं कि मामला सस्ते में निपट गया।

होता यह है कि सद्गुरु हमारे सामने होते हैं और हम पहचान ही नहीं पाते। हमारी सांसारिक स्वार्थलिप्सा गुरुओं को भी उसमें घसीट लेती है। लेकिन याद रखना जो अपने आसपास संन्यास को भी संसार में तब्दील कर लेते हैं, उन गुरुओं से सावधान रहना। गुरु का कार्य है ज्योतिर्मय पथ प्रदान करना। तुम्हारा हाथ पकड़कर मझधार में ले जाना और किनारे का रास्ता दिखाना। गुरु तो प्रकाश-स्तम्भ है जिसकी रोशनी में जीवन का अंधकार तिरोहित होता है। वह अपने अनुभव की टेर सुनाता है और उस बंशीरव को सुन साधकों में अभीप्सा जाग्रत होती है। वह मनुष्य को सत्य की जानकारी दे रहा है, बोध और होश दे रहा है कि उसने जो पाया वह सभी पा सकते हैं। वह जीवन के श्रेयस्कर मार्ग की ओर इशारा है। वह तो चाँद की ओर अंगुली से इशारा करता है, फिर धीरे से अंगुली भी हटा लेता है कि तेरा चाँद से, सत्य से, परमात्मा से सीधा सम्बन्ध जुड़ जाए।

‘सद्गुरु बांटे रोशनी, दूर करे अंधेर’—सद्गुरु उस अंधकार को दूर करता है जो मनुष्य के अन्तस् में फैला हुआ है। संसार में एक अंधकार तो बाहर है जो दिखाई देता है, लेकिन एक अंधकार भीतर है जो बाहर से नजर नहीं आता। सद्गुरु उस अंधकार को कैसे दूर किया जाए इसका ज्ञान देता है। अपनी ज्योति से तुम्हारी ज्योति भी जाग्रत करता है कि तुम भी प्रकाश से भर जाओ। अंधे-अभिषप्त गलियारे में भटकते मनुष्य को जो प्रकाश की किरण दिखा दे, उसी का नाम सद्गुरु है। वही तारक है, वही परम पुरुष है, वही तीर्थकर है, जो अंधेरे में भटकती आत्मा को सन्मार्ग दिखा दे। बशर्ते तुम्हारे भीतर गुरु

के प्रति गहन श्रद्धा, सघन आस्था पनप जाए कि तुम्हें गुरु में केवल गुरुता ही नजर आए।

कहते हैं—एक गुरु और शिष्य यात्रा कर रहे थे। घने जंगल में किसी वृक्ष की छाया में उन्होंने विश्राम किया। गुरु बैठे थे और युवा शिष्य सो गया। तभी अचानक कहीं से भयानक विषधर सर्प निकल आया। गुरु ने उसे रोकना चाहा। लेकिन सर्प न रुका। उसने कहा, “तुम्हारा यह शिष्य मेरे पूर्व भव का वैरी है, मैं इसका रक्तपान करूंगा।” गुरु ने पूछा, “तुम इसे मारना चाहते हो या केवल रुधिर से तृप्त हो जाओगे?” सर्प ने कहा, “मुझे तो केवल इसका खून चाहिए।” यह सुन गुरु ने अपने थैले से चाकू निकाला और सोये हुए शिष्य की त्वचा को छील दिया। शिष्य ने आँख खोली, देखा, फिर आँखें बन्द कर लीं। गुरु ने खून निकाला और पत्तों के दोने में भरकर सर्प को दे दिया। सर्प संतुष्ट होकर चला गया, वैर पूरा हो गया। इधर शिष्य फिर भी सोया रहा। आखिर गुरु ने उसे उठाया और पूछा, मैं तुम्हारे शरीर पर चाकू चला रहा था। तुम्हें मालूम पड़ा? शिष्य ने हाँ भरी। गुरु ने पूछा, “मुझ पर संदेह हुआ।” उसने कहा, “नहीं।” गुरु ने पूछा, “तुम्हें भय नहीं लगा, तुम उठकर नहीं बैठे, मुझे रोका नहीं?” शिष्य ने उत्तर दिया, “जब गुरु चरणों में जीवन ही समर्पित कर दिया, तो दो कतरे खून से कैसा मोह ! कैसा संशय !”

कृष्ण कहते हैं ‘संशयात्मा विनश्यति’। संशय में जीने वाली आत्मा किसी छोर को नहीं पकड़ पाती। वह सदा अंधकार में रहती है। सदगुरु का कार्य ऐसे अंधकार में रहने वाले अंधों को आँखें देना है अर्थात् जो मनुष्य भीतर से अंधा हो गया है, इसके प्रज्ञा-चक्षु का उद्घाटन करना है। ताकि हो सके जीवन में अनुभव भरी सवेर। अभी तक उसने शरीर का, संसार का स्वाद व अनुभव ही जाना था अब सदगुरु ने उसे अनुभवों का नया संसार दिया है। उसके जीवन की अनुपम भोर हुई है। इस नूतन प्रभात के आलोक में वह देख सकेगा कि वह किन रोगों से ग्रसित है। प्रज्ञा-पुरुष ने जो सूर्य जगाया है उसे अभिनव अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है।

प्रज्ञा-पुरुष तुम्हें भीतर देखने की दृष्टि देता है। जब तक भीतर की दृष्टि नहीं मिलती, व्यक्ति भेदज्ञान को उपलब्ध नहीं हो पाता। वह शरीर को चेतना से अलग नहीं देख पाता, लेकिन ज्ञानवान प्रज्ञा-पुरुष तुम्हें यह कला सिखाता है कि तुम स्वयं को स्वयं से अलग कर पाओ। और जान सको कि तुम्हारे भीतर राग, द्वेष, मोह, मत्सर जैसे रोगों ने स्थान बना लिया है। शरीर के रोगों

का निदान तो चिकित्सक कर देते हैं लेकिन मनस-रोगों की चिकित्सा तो सद्गुरु ही करते हैं। वे तुम्हें प्रकाश देते हैं, अन्तर्दृष्टि देते हैं कि चेतना के अन्तर अस्तित्व के रोगों को पहचान सको और उन रोगों से विमुक्त हो सको।

मन के रोग ही रोग हैं। तन के रोग आते-जाते रहते हैं। मन के रोग तो आसन जमाए बैठे रहते हैं। आखिर जो मन में होगा, वही तो तन में होगा। मन का छुपा हुआ तन में प्रकट हो जाता है। ओह, हमारी यही विडम्बना रही कि न जान सके अपने मन के रोगों को, मन की खटपट को, मन के मवाद को। गुरु अन्तर्मन का प्रकाश है। गुरु अन्तरमन की चिकित्सा है। गुरु हमें उस अन्तर्दृष्टि का स्वामी बनाता है जिससे पहचान सकें हम कि मन में कैसा रोग है। अन्तर-जीवन का स्वास्थ्य, अन्तर-जीवन की शुद्धि और शांति प्रदान करना ही, मुक्ति प्रदान करना ही गुरु का धर्म है।

आज के संबोधि-सूत्रों का सार यही है कि मनोभावों का रूपान्तरण हो। अन्तर्दशा में जागरूकता और सजगता आए। किसी सद्गुरु का, सुनी-सुनाई बातों से नहीं, प्रवचनों से प्रभावित होकर भी नहीं, वरन् जिसकी वाणी से, जिसके संदेशों से तुम्हारी चेतना झंकृत हो जाए, जिसकी वीणा से तुम्हारे तार झंकृत हो जाएं, उसके चरणों में जाकर अपने जीवन को, अपने हृदय को, अपनी चेतना को समर्पित करो। ताकि तुम पर रोशनी की बौछार हो सके। प्रज्ञा-पुरुष का सामीप्य पाकर अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध हो सको। और इस अन्तर्दृष्टि में खुद पहचान सको कि तुम्हारे भीतर कौन-कौनसे रोग हैं। जब तक रोगों की पहचान नहीं होगी, रोगों से मुक्त होने का उपक्रम कैसे कर पाओगे ? इसलिए सद्गुरु के पास जाकर वह रोशनी, वह अन्तर्दृष्टि पाएं कि अपने रोगों को पहचान सकें। इसका प्रथम और अन्तिम उपाय है ध्यान में उतरो, आत्म-रमण में उतरो और देह-भाव तथा अहंभाव से मुक्त हो जाओ। मन में, मन से पार जाकर, चित्त में चित्त से पार पहुँचकर, विचारों में विचारों से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व से पहचान करो, यही अनुरोध है।

अभिवादन।

□ □

सद्गुरु बांटे रोशनी

मुक्ति : प्राणिमात्र का अधिकार

कुछ मित्र समुद्र किनारे घूमने गए। उन्होंने खूब शराब पी रखी थी। पूर्णिमा का चाँद चमक रहा था। समुद्र अपनी रवानी पर था। समुद्र की फेनिल लहरों ने उन युवकों को आकर्षित किया। उन्होंने नौका-विहार करने की ठानी। सभी शराब के नशे में थे। उन्होंने देखा तट पर नाव खड़ी है, उसमें पतवार भी है। वे सभी नाव में जाकर बैठ गए और पतवार चलानी शुरू कर दी। बहुत मजा आ रहा था। शराब के नशे में वे एक दूसरे से आगे जा रहे हैं, ऐसा सोच रहे थे।

धीरे-धीरे चाँद ढलने लगा। इधर, भोर का उजियारा फैलने लगा। उधर, नशा भी उतरने लगा। युवकों ने देखा—वे किसी तट पर जा पहुँचे हैं। शराब का नशा उतर चुका था। सभी उस तट पर उतर गए, पर यह क्या, उन्होंने पाया कि जिस तट से उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की थी वापस उसी तट पर उतरे। आपस में बातचीत करने लगे कि कमाल हो गया, हम रात भर पतवारें खेते रहें, लम्बी यात्रा करके वापस उसी तट पर आ लगे, जहाँ से चले थे। कितने आश्चर्य की बात है, हम वहीं पहुँच गए, फिर रात भर पतवारें चलाने का लाभ क्या मिला ! एक ने चारों ओर नजर घुमाई। वह फिर जोर से ठहाका लगाकर हंस पड़ा। दूसरे दोस्तों ने इस हंसी का कारण पूछा। उसने कहा, यह ठीक ही है कि हमने रात भर यात्रा की, पतवारें भी खूब चलाई, पर लंगर खोलना तो भूल ही गए।

क्या हमारी स्थिति भी इन शराबी दोस्तों की तरह नहीं है जो लंगर खोलना भूल गये थे, तो नाव आगे बढ़ती कैसे ? धर्म के नाम पर कुछ करते रहे, दान

के नाम पर कुछ करते रहे, शील के नाम पर भी कुछ किया और तप के नाम पर देह का दण्डन भी करते रहे, लेकिन क्या ऐसा नहीं लग रहा है कि हमारी स्थिति भी उन लोगों जैसी है, जो बिना डोरी खोले रात भर पतवारें चलाते रहे। क्या हमने पाया कि हमने कुछ प्रगति की, कुछ विकास किया, कहीं पर पहुँच पाए ? कहीं ऐसा तो नहीं जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की, वहीं पर वापस पहुँच गए। आपने देखा होगा लोग हैल्थ-क्लबों में जाते हैं, शारीरिक व्यायाम करने के लिए। वहाँ पर 'स्टेण्ड साइकिलें' भी होती हैं। पाँवों की जकड़न खोलने के लिए साइकिलिंग करवाते हैं। उन साइकिलों में किमी. का सूचकांक लगा होता है। आप पन्द्रह-बीस मिनट साइकिल चलाते हैं। दो-चार-दस किमी. दूरी सूचकांक पर आती है, पर जब आप साइकिल से उतरते हैं, तो वहीं होते हैं जहाँ से चढ़े थे।

अब हमारी दुविधा यह है कि हम खड़ी साइकिल पर पैडल मारते हैं। स्टैंड से साइकिल न उतारोगे, तो व्यायाम भर होगा, पहुँचना कहीं नहीं। मूर्च्छा का स्टैंड हटाओ, मूर्च्छा के लंगर खोलो।

हमारी स्थिति बिना अन्तर्वृत्तियों के रूपान्तरण, बिना मनोवृत्तियों के रूपान्तरण और बिना चेतनागत संस्कारों के रूपान्तरण के वैसी ही है, जैसे बिना लंगर खोले नौका चलाना। इसी का परिणाम है कि शास्त्रों को, धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने के बावजूद मनुष्य में कोई परिवर्तन नहीं आ पाता। मनुष्य पढ़-पढ़कर बुद्धि का विकास कर लेता है, लेकिन जीवन का विकास नहीं हो पाता। धर्म के नाम पर त्याग, यज्ञ-हवन, दान-दक्षिणा कर लेते हो, लेकिन कभी आत्म-चिंतन नहीं करते। उनसे पूछो कि तुम बाह्य रूप से जितने धार्मिक, आध्यात्मिक बने हुए हो, क्या आंतरिक रूप से भी इतने ही पवित्र और निर्मल हो ? जितने धवल वस्त्र हैं, क्या इतनी ही उज्ज्वलता उपार्जित की है ? दीर्घ तपस्याएँ कर लेते हो, फिर भी क्या भोजन के प्रति आसक्ति छूट पाती है ! तुम दान देकर भी धन के प्रति लोभ नहीं छोड़ पाते हो। जब तक तुम्हारे मन में पल रहे कलुषित संस्कार नहीं निकलते हैं, तब तक चाहे तुम तप करो या दान, सब व्यर्थ हैं।

घर, परिवार, मकान, दुकान को छोड़ वेश-परिवर्तन कर लेना अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म है अन्तर्वृत्तियों का रूपान्तरण। तुम्हारी एषणा जो संसार और भौतिकता के प्रति है, उसके सम्मोहन से मुक्त होना अध्यात्म है। जब इस तरह अपनी अन्तर्वृत्तियों को, अपने आंतरिक अंधकार को, अपने कलुषित कषाय

को टटोलते हो तो पाते हो कि चेतना की विशुद्धि किस मार्ग से प्राप्त होती है। हमारी गंगा उल्टी दिशा में बह रही है। हमें बताया गया है कि अध्यात्म का सम्बन्ध हमारे अन्तर्जगत से और संसार का सम्बन्ध हमारे बाह्य जगत से है, लेकिन क्या हम विपरीत दिशा में नहीं हैं? हमने संसार को अन्तर्जगत से और अध्यात्म को बाह्य जगत से जोड़ लिया है। अब हम मझधार में लटक गये हैं। मन में अध्यात्म और हृदय में संसार। जबकि हृदय में अध्यात्म उतरे तो कुछ बात बने।

संबोधि-सूत्र का सार यही है कि हम हृदय में उतर जाएँ। संबोधि-सूत्रों की गहराई में जाने का भाव है कि तुम स्वयं की गहराई में उतर जाओ। ध्यान में उतरने का अर्थ है, स्वयं के भीतर उतरना। जब ध्यान की ओर पहला कदम बढ़ाया जाता है, उसे कृत्य के रूप में स्वीकारना होता है, लेकिन ध्यान कृत्य नहीं है, ध्यान में हर क्षण होना होता है। ध्यान स्वभाव में जीना है, स्वभाव में स्थित होना है। इसलिए ध्यान धारण करते हैं, तो हमारे अन्तर्मन का तमस बार-बार बाहर निकलकर आता है। इस तमस का शोधन ध्यान से होता है। संसार को पाने और भोगने की लालसा का तिरोहन ध्यान से होता है। तुम्हारी मनोवृत्ति संसार की ओर दौड़ती है, ध्यान में तुम देखते हो कि ये मनोवृत्तियाँ कैसी हैं और इनसे कैसे मुक्त हुआ जाए। संसार की कामना से कैसे अलग हुआ जाए। ध्यान में तुम जान पाओगे कि इन बुराइयों की बुराई कहाँ से होती है। माना कि बुराई है, लेकिन इन्हें बोया कहाँ से गया है, इसका बीजारोपण कहाँ से हुआ है। कहाँ तक इसकी जड़ें हैं, यह ध्यान के माध्यम से जाना जाता है। ठेठ अन्तर्मन तक, अन्तःस्तल तक जहाँ इसकी जड़ें गहरी हो गई हैं, वहाँ से इन जड़ों को उखाड़ने का प्रयास ध्यान द्वारा किया जाता है। जब ध्यान उन जड़ों पर चोट करता है तो हम डाँवाडोल होने लगते हैं। हम डर जाते हैं। सदियों के संस्कार की चूलें हिलती हैं, तो हम घबरा जाते हैं। हमने अपने हृदय पर इतने आवरण डाल दिए हैं कि एक परत के हटते ही हमारा मन उसे बचाना चाहता है। बुद्धि हृदय को दबाए रखती है। क्योंकि हृदयवान होते ही बुद्धि का जोर नहीं चलता और बुद्धि क्षीण होने लगती है। बुद्धि के पासे हृदय को फंसाए रखते हैं। लेकिन क्षमा, करुणा, प्रेम हृदय के भाव हैं और क्रोध मन का। क्रोध के पराजित होते ही मन सीमा में बंध जाता है और असहाय व्यक्ति की भांति भय का जाल रचता है, लेकिन ध्यान की गहराई इसी में है कि तुम जड़ों को काटते चले जाओ निशंक होकर। फिर बुद्धि और मन भी तुम्हारे सहयोगी हो जाएंगे।

मैं देख रहा हूँ कि तुम हृदयवान होना ही नहीं चाहते। हाँ, दिखावा जरूर करोगे करुणा, दया, प्रेम, क्षमा का, लेकिन क्रोध की किरण लौ बनकर लपकती ही रहती है और तुम्हारी बेहोशी इतनी गहन है कि तुम बार-बार क्रोध करके भी क्रोध से उबर नहीं पाते। क्रोध ने तुम्हारे मित्रों से तुम्हें दूर कर दिया, क्रोध ने पिता को पुत्र से अलग कर दिया, आप सब जानते हैं क्रोध के कारण न जाने कितने दुष्परिणाम हुए, फिर भी क्रोध से मुक्त न हो पाए। यह हमारी बेहोशी है। इस बेहोशी ने हमें चारों ओर से घेर रखा है। हर पल बेहोशी को हमने नियति बना लिया है और कुछ नहीं तो शराब पीकर बेहोश हो रहे हैं। फिर चाहे जितने उपदेश दो, कितनी प्रेरणाएँ दो, शुभ संदेश दो सब बाहर ही रह जाते हैं। उसकी बेहोशी बहुत गहरी है।

मुझे याद है, मुल्ला नसरुद्दीन रोज शराब पीकर देर रात तक घर वापस आता। पत्नी परेशान। रोज-रोज देर से घर आना। पीकर दोस्तों की महफिल में बैठे रहना और जब वे जाएं, तो घर आना। पत्नी करे भी तो क्या। देर से आना और दरवाजा बजा-बजाकर पत्नी की नींद खराब करना। पत्नी की सहनशक्ति की भी सीमा थी। माना कि तुम पति हो, लेकिन उस पर जुल्म करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। यह उसके साथ सरासर अन्याय है, लेकिन नसीरुद्दीन को विवेक कौन दे ? अब पत्नी सोए तो कैसे सोए ? फिर उसने ही उपाय सुझाया और कहा अब तुम बाहर से ताला लगाकर चाबी साथ ले जाया करो। फिर तुम्हारी मर्जी हो, वापस आओ और ताला खोलकर भीतर आ जाओ। रोज मेरी नींद खराब करते हो, अब बहुत हो गया। मुझे आराम से सोने दिया करो। रोज-रोज की चखचख से बचने के लिए मुल्ला ने पत्नी की बात स्वीकार ली। ठीक है इसमें परेशानी भी नहीं है, अब मैं चाहे जब आऊं, महफिल से जल्दी उठना भी न पड़ेगा, मुल्ला ने मन ही मन सोचा।

अब तो मुल्ला और देर से घर आने लगा। चाबी तो उसी के पास थी। एक दिन उसने कुछ ज्यादा ही पी रखी थी। जैसे-तैसे घर पहुँचा और चाबी हाथ में लेकर दरवाजे पर लगा ताला ढूँढने लगा। ढूँढते-ढूँढते दरवाजा खटखटाने लगा। पत्नी जागी और पूछा क्या बात है, चाबी खो गई है क्या, दूसरी चाबी दूँ। नसीरुद्दीन ने कहा, चाबी तो मेरे हाथ में है ताला खो गया है, अगर हो सके तो दूसरा ताला फेंक दे।

बेहोशी इतनी गहरी है। तुम्हारे पास जो क्षमताएँ हैं वे किसी अन्य जीव के पास नहीं हैं। देव-दानव, पशु-पक्षी सभी इससे वंचित हैं। रामायण में तुलसीदास

कहते हैं—‘बड़े भाग मानुस तन पावा, सुर दुर्लभ ग्रंथ कोटिन्ह गावा ।’ वह क्या है मनुष्य के पास कि जो देवों को उपलब्ध नहीं हैं और सैंकड़ों ग्रंथ भी जिसकी महिमा का गान नहीं कर सके। हमारे पास जरूर कुछ विशिष्ट है और वह है, भगवत्ता को उपार्जित करने की क्षमता। यह क्षमता अन्य किसी के पास नहीं है। इसलिए तुम्हारी महत्ता सर्वाधिक है। तुम्हें इस भगवत्ता को पाना है। अपनी मूर्च्छा से बाहर निकलो। तुम्हारे साथ संसार की वैभव-विलासिता नहीं जाएगी। अपने अन्तर-बंधनों को पहचानो। उनसे मुक्त होने का प्रयास करो, ताकि अपनी मौलिकता से पहचान हो। आज के संबोधि-सूत्र इसी बात की ओर इशारा कर रहे हैं कि तुम्हारी बाह्य संपदा से अधिक भीतर संपदा छिपी हुई है। तुम्हारी भौतिक शक्ति से अधिक शक्ति चेतना में छिपी है। काश तुम भीतर उतरो तब अन्तस् की गहराई में जाकर तुम पाओगे कि सम्पूर्ण अस्तित्व तुम्हारे स्वागत में तत्पर है।

आज के संबोधि-सूत्रों में उतरें—

चित्-शक्ति की चेतना, अन्तस् का आह्लाद।
 मुखरित होता मौन में, शाश्वत सोहंनाद।
 नया जन्म दें स्वयं को, सांस-सांस विश्वास।
 छाया दे संसार को, पर निस्पृह आकाश।
 मुक्ति मानव-मात्र का, जीवन का अधिकार।
 मन की जो खटपट मिटे, तो हो मुक्त विहार।

चेतना का स्पर्श करने वाले गहन गंभीर पद हैं ये। कोहिनूर-सी चमक है इन पदों में। तुम्हारे अन्तस् के द्वारोद्घाटन करने के लिए ये स्वर्णिम सूत्र हैं। ‘चित्-शक्ति की चेतना, अन्तस् का आह्लाद’—व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी चेतना की शक्ति को पहचाने, अपने चित् अर्थात् आत्मा। तुमने अभी तक आत्मा को जाना ही नहीं है, इसलिए तुम ‘चित्’ को मन समझने की भूल करते हो। मन में कोई मौलिक शक्ति नहीं है वहाँ तो प्रतिबिम्ब है आत्मा की शक्ति का। जो ऊर्जा तुम्हें लगता है कि मन से मिल रही है वह आत्मा के द्वारा ही आती है। तुम्हारी दृढ़ता, आत्म-विश्वास सब आत्मा से आते हैं। मन में केवल विचार आते हैं। मन में से विचार निकाल दो तो फिर वहाँ क्या बचता है? मन खाली हो जाता है। इस खाली मन को आत्मा की शक्ति का विश्राम-स्थल बनाओ। अपनी आत्मा की संचित शक्ति से इस मन को ऊर्जावान बनाओ। जब तुम अपनी आत्मा की मौलिक क्षमता और संपदा को पहचान लेते हो तो पाते हो कि अन्तस् में कितना आह्लाद, मौज और आनन्द है। जो भी आत्मवान होते हैं, उनके

जीवन की यही विशेषता है कि अन्तस् आनन्द, अन्तस् ऊर्जा की तरंगें उनके जीवन को शांत और गरिमापूर्ण बनाती हैं।

अगर कभी किसी आत्मज्ञ या ध्यानी या गुरु के पास जाओ तो उनसे कुछ पूछना मत, बस उनके पास जाकर बैठ जाना। लेकिन तुम्हारी आदत, तुम उनसे धर्म, अध्यात्म, ध्यान आदि के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने लगते हो। अब भला कोरे प्रश्नों के उत्तर से तुम कैसे जान पाओगे कि वह कितना ध्यानी, आध्यात्मिक या आत्मवादी है। यह काम तो कोई पंडित भी कर सकता है। और शायद ज्यादा अच्छी तरह, अधिक तर्कयुक्त ढंग से कर पाएगा क्योंकि शास्त्रों के प्रमाण भी उसके पास होंगे। लेकिन इससे वह बुद्धिवादी हो जाएगा, आत्मवादी न हो पाएगा। इसलिए सदगुरु के पास जाकर प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं है। केवल उनके पास जाकर मौन बैठ जाओ। उनकी चेतना की तरंगें तुम्हें शांत कर देंगी, तुम्हारे प्रश्नों का समाधान खुद-ब-खुद हो जाएगा। उनकी बहती हुई ऊर्जा तुम्हें आवेशित (Charge) कर देगी, तुम समझ लेना यही सदगुरु है। तुम चाहे जितना खोजो, लेकिन जहाँ तुम्हें शांति की प्रतीति हो, जहाँ तुम्हारी चेतना में भी आंदोलन होने लगे, जिनकी तरंगें तुम्हें उद्वेलित कर दें कि तुम स्वयं की खोज में प्रवृत्त हो जाओ, तो जानना कि सदगुरु मिल गया। आत्मवान की पहचान ही यही है कि उसके सम्पर्क में आते ही अपूर्व शांति का अनुभव हो। ऐसी शांति जो संसार की कोई भी वस्तु नहीं दे पाई, वह परम शांति उसके पास उपलब्ध होती है।

जिसकी चेतना जाग चुकी है, वह ही अन्तस् के आह्लाद को उपलब्ध होता है। तुम्हारे भीतर आनन्द के निर्झर बह रहे हैं। तुम्हें बाहर आनन्द ढूँढना होता है। कभी कहानी में, कभी उपन्यासों में, कभी फिल्मों में, कभी पिकनिक या तीर्थस्थलों पर जाकर तुम खुशियाँ खोजते रहते हो, लेकिन क्या इनसे हमेशा प्रसन्न रह पाते हो, यह सब तो क्षणिक हैं। जब तुम इनसे रूबरू होते हो, तो प्रसन्नता के सन्निकट होते हो, लेकिन इनसे दूर हटते ही यह प्रसन्नता खोने लगती है। लेकिन साधक कह रहा है कि तुम अपने भीतर जाओ, बस भीतर उतर जाओ, वहाँ आनन्द ही आनन्द है। तुम्हें खोजना नहीं है वहाँ सदा से विद्यमान है। तुम्हारी चेतना की शक्ति में आनन्द के स्रोत हैं। 'मुखरित होता मौन में, शाश्वत सोहंनाद'—तब तुम मौन भी रहोगे तो वह मौन मुखर हो जाएगा। तुम्हारा आनन्द, तुम्हारा आह्लाद सोहंनाद के रूप में बाहर आएगा।

यह सोहंनाद क्या है ? तीन शब्द हैं—कोऽहं, सोऽहं और शिवोऽहं। कोऽहं—मैं कौन हूँ—अध्यात्म की यात्रा कहाँ से प्रारम्भ हो, साधना के सोपान में यह जानना

मुक्ति : प्राणिमात्र का अधिकार :: 77

जरूरी है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मेरा क्या स्वरूप है, क्या मुझे पाना है। जब ध्यान की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ते हैं तो अस्तित्व से पूछते हैं 'कोऽहं'—मैं कौन हूँ। बार-बार गहराई में उतरकर प्रश्न उठाना होता है 'कोऽहं'—तब चेतना की गहराई से उत्तर आता है 'सोऽहं'—मैं वह हूँ। अभी तुम जब ध्यान में उतरकर यह प्रश्न पूछते हो तो उत्तर भी साथ ले आते हो। अभी तुम्हारे उत्तर रटे-रटाए हैं। तुमने सुन लिए हैं, उन्हीं को दोहरा देते हो। प्रवचनों में सुने थे, सो प्रतिध्वनित हो रहे हैं। कहीं पढ़ लिए थे, वो याद आ रहे हैं। अभी तुम्हारे सब उत्तर आरोपित हैं। जब उत्तर आएगा, तुम मौन हो जाओगे और उस मौन में जो मुखरित होगा वह शाश्वत होगा, सत्य होगा, वही सोऽहं नाद होगा। तुम्हें कहना नहीं पड़ेगा कि 'मैं वह हूँ'—तब तुम 'वह' ही होओगे। इसके आगे भी तुम्हें निरंतर साधना की गहराई में उतरते जाना है। अभी तो तुमने सिर्फ स्वयं को जाना है। अभी और भी कुछ जानना है जिसके बाद जानने को कुछ शेष न रह जाय। अभी तो केवल अपने अस्तित्व को पहचाना है, अभी तो उसे जानना है जिससे अस्तित्व की पूर्णता है, दिव्यता है। इसलिए ध्यान को और गहराई दो, ऐसी गहराई जिसे बुद्ध ने परिनिर्वाण की संज्ञा दी, जिसे महावीर ने मुक्ति कहा, जिसे कृष्ण ने गोलोक बताया—उस स्तर पर पहुँचकर तुम्हें पता चलेगा कि कल तक जो कोऽहं था, सुबह तक सोऽहं था, अब 'शिवोऽहं' हो गया है।

'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म तत्त्व हूँ, मैं शिव तत्त्व हूँ, मैं चेतन तत्त्व हूँ, यह अंतिम स्थिति है। प्रथम सोपान में तो आत्मशक्ति का ज्ञान होता है और उसके आह्लाद से अन्दर-बाहर आनन्द ही आनन्द बरसता है और मौन को उपलब्ध हो जाता है। इस मौन में ही उसके वे शब्द मुखरित हो जाते हैं, जो संबोधि-सूत्र में हैं। वे मौन साधक धन्य हैं जिनकी भाषा नहीं होती, केवल भाव होते हैं। वे धन्य हैं जो मुख से नहीं बोलते, लेकिन उनका सत्संग ही उनकी वाणी बन जाता है। उनका मौन किसी की भी चेतना के रूपान्तरण में सहायक हो जाता है। 'क्षणमपि सज्जन संगति रे का, भवति भवार्णवतरण नौका' या तुलसीदास ने जो कहा है—

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।

तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध।।

यह सब उनके लिए नहीं है जो मंच पर बैठकर प्रवचन करते हैं या वे जो जीवन की बातें बतियाते रहते हैं। यह तो उनके लिए है जिनके पास बैठने मात्र से तुम्हारे भीतर उठने वाले विकार क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं, वह पुरुष

सद्गुरु कहा गया जिसका सामीप्य पाते ही हमारी चेतना रूपान्तरित हो जाए, हमारी कलुषता समाप्त हो जाए।

हम ध्यान की गहराई में, संबोधि-सूत्रों की गहराई में प्रवेश कर रहे हैं, तो हमारी तरंगें चेतना तक जा रही हैं। अन्तस् का आह्लाद हो रहा है। मौन में सोऽहं नाद मुखरित हो रहा है। शिवोऽहं और अहं ब्रह्मास्मि की रश्मियाँ प्रकट हो रही हैं।

नया जन्म दें स्वयं को सांस-सांस विश्वास।

छाया दे संसार को पर निस्पृह आकाश।।

समय आ गया है कि स्वयं को नया जन्म दें। माँ तो तुम्हें जन्म दे चुकी है, लेकिन जीवन के द्वार से दुबारा जन्म लो। जीवन के द्वार से अतीत द्वारा मुक्त हो जाओ। माँ ने तुम्हें जन्म दिया था उसके पूर्व भी तुम किसी जन्म में थे, लेकिन माँ के द्वारा जन्म दिए जाने पर तुम उन सब बातों को भूल गए, जो कभी थीं, तुम नया जन्म पाते हो। एक जन्म वह है, जो तुम्हें माँ ने दिया और एक जन्म तुम्हें स्वयं लेना है, साधना के द्वारा। 'द्विज' शब्द सुना है न, यानी दोबारा जन्म लेना। जन्म से कोई द्विज नहीं होता। द्विज तो होना पड़ता है। ब्राह्मण जाति नहीं है। ब्राह्मण तो वे होते हैं जिन्होंने ब्रह्म को जान लिया। पहले वे 'द्विज' होते हैं। तब कहीं ब्राह्मण हो पाते हैं। जो साधना के द्वारा स्वयं को नया जन्म देते हैं, स्वयं के ब्रह्म स्वरूप को पहचान पाते हैं, तब कहीं जाकर ब्राह्मण बनते हैं।

नया जन्म कैसे हो ? साधना के द्वारा नया जन्म हो। अभी तक जो संस्कार, वृत्तियाँ, कटुता, वैर-विरोध के भाव हमारे अंदर विद्यमान हैं, उन को विस्मृत कर सकें, इसलिए नया जन्म लें। जिस तरह पूर्वजन्म की स्मृतियाँ इस जन्म में नहीं रहती हैं, उसी तरह इस जन्म में एक और जन्म लेकर इस जन्म की दुष्प्रवृत्तियों को, इस जन्म के मायाजाल को विस्मृत कर दें। महागुफा में बैठा साधक हमें प्रेरित कर रहा है कि पुनर्जन्म हो। अभी तक तो शरीर का जन्म हुआ था, अब जीवन का जन्म हो ताकि हमारे भौतिक संस्कार क्षीण हो जाएं। अन्यथा हम नित नवीन मार्ग खोजते रहेंगे और संसार में प्रवृत्त होते रहेंगे।

मुझे याद है : मुल्ला नसीरुद्दीन हज की यात्रा पर गया। यात्रा के भाव तो थे नहीं, बस गांव के लोगों ने प्रेरित कर दिया तो रवाना हो गया। हज कर लिया। वापसी के समय पानी के जहाज से आ रहा था कि अचानक समुद्र में तूफान उठा। तूफान इतना तीव्र था कि सभी ने जीने की आशा छोड़ दी।

मुक्ति : प्राणिमात्र का अधिकार :: 79

मरते क्या न करते। सभी अल्लाह को याद करने लगे। मुल्ला ने भी देखा अब मरना ही है तो उसने घोषणा की कि हे खुदा ! अगर मैं बच गया तो मैंने जो नौ लाख की अटारी बनवाई है वह तुम्हारे नाम कर दूंगा। सभी बहुत आश्चर्य से भर गये कि मुल्ला जिसने कभी कौड़ी भी दान में न दी वह खुदा के नाम पर नौ लाख की कोठी कुर्बान करने को तैयार! और उसने सोचा कि बचने वाले तो हैं नहीं, घोषणा तो कर ही दो। पर किस्मत अच्छी कहिए कि तूफान शांत हो गया और जहाज बच गया। अब नसीरुद्दीन घबराया, क्योंकि सैंकड़ों लोगों के सामने घोषणा की जा चुकी थी। व्यक्ति अगर भीतर-भीतर घोषणा करे तो दबाकर भी रखी जा सकती है और समाज के बीच मंच से घोषणा कर दी जाए, तो न देने की इच्छा होने पर भी शर्म के कारण देना पड़ जाए। मुल्ला का भी यही हाल हो गया। सोचने लगा इससे तो जहाज डूब जाता तो अच्छा रहता, कम-से-कम नौ लाख का महल तो दान नहीं देना पड़ता। फंस गया बेचारा। जहाज के यात्रियों ने गांव पहुँचकर खबर फैला दी कि मुल्ला खुदा के नाम पर अपनी नौ लाख की अटारी दान कर रहा है।

रोज लोग आते, उसे उकसाते और कहते अपनी कोठी दान में दे। नसीरुद्दीन ने सोचा बुरे फंसे। अब कोई न कोई रास्ता तो निकालना ही पड़ेगा। फिर एक घोषणा की कि वह अपनी कोठी नीलाम कर देगा और जितना पैसा आएगा वह दान कर देगा। सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए यह जानकर कि मुल्ला कोठी बेचकर सारा पैसा दान कर देगा। गांव के लोग मुल्ला की कोठी के सामने इकट्ठे हो गए। नीलामी की बोली शुरू हो गई तभी नसीरुद्दीन बोला, रुको मेरी एक शर्त है, मेरे पास एक बिल्ली है और इसकी कीमत है नौ लाख रुपये। यह कोठी तो सिर्फ एक रुपये की है और शर्त यही है कि जो इस बिल्ली को खरीदेगा कोठी उसी को दी जाएगी। खैर, बहुत तरह के लोग होते हैं फंस गए मुल्ला की चालबाजी में। बोली लगी, नौ लाख में बिल्ली और एक रुपये में कोठी बिक गई। मुल्ला ने असली रंग दिखाया, मैंने खुदा के नाम पर कोठी दान की थी बिल्ली नहीं, इसलिए मकान का जो एक रुपया आया है उसे खुदा के नाम पर दान देता हूँ और नौ लाख.....। उसकी जेब में पहुँच गए।

तुम इस तरह मार्ग निकालते रहोगे, तो कहीं भी न पहुँच पाओगे, जहाँ हो वहीं अटके रह जाओगे। इसलिए संबोधि-सूत्र में कह रहे हैं—'नया जन्म दें स्वयं को—अपने अतीत के संस्कारों और विचारों से मुक्त होकर एक नवीनता प्राप्त करो जहाँ सब शुभ और श्रेयस्कर हो। तुम्हारी परमात्मा के प्रति श्रद्धा

सांस-सांस में रम जाए। परमात्मा है यह विश्वास तो कर लेते हो, लेकिन उसके प्रति श्रद्धा नहीं है। तुम्हारी श्रद्धा भी संशययुक्त है। तुम मंदिर जाते हो, भगवान के द्वार पर जाते हो, लेकिन अपने संशय मिटा नहीं पाते। तुम्हारे पुजारी कहते हैं कि तुम जितना मंदिर में चढ़ाओगे, सौ गुना वापस मिल जाएगा। यह भी व्यापार हो गया और अच्छा व्यापार। दुनिया में कोई ऐसा धंधा है कि एक लगाओ और सौ पाओ ? फिर भी जब तुम मंदिर जाते हो और जेब में हाथ डालते हो और सौ का नोट आया तो उसे दबा देते हो, सोचने लगते हो महाराज ने कहा तो था एक रुपये दोगे तो सौ मिलेंगे और अगर न मिले तो ये सौ भी पानी में चले जाएंगे। तुम्हारा संशय खड़ा हो जाता है तुम क्या करते हो, सभी जानते हैं। अगर पक्का विश्वास हो तो तुम बेखौफ डाल दो, लेकिन तुम्हारी श्रद्धा भी बदलती रहती है, तुम्हारा विश्वास डोलता रहता है। इसलिए कहा कि 'सांस-सांस विश्वास'—परमात्मा के प्रति तुम्हारा विश्वास श्वास-श्वास में रमण करने लगे। जैसे बिना श्वास के तुम जीवित नहीं रह सकते, वैसे ही उस दिव्य चेतना के बिना तुम प्राणहीन हो जाओगे, जब यह भरोसा आता है तभी उस परमात्मा के प्रति श्रद्धा आती है।

यदि श्रद्धा साथ नहीं है तो संशय में चाहे जो करो कुछ भी हाथ आने वाला नहीं है। अगर किसान यह सोचकर बीज न बोए कि बीज तो बो दूंगा, पर बरसात न आई तो ? पर नहीं, किसान को श्रद्धा रखनी होगी और बीज बोने होंगे।

अगली पंक्ति—'छाया दे संसार को, पर निस्पृह आकाश'—जब तुम्हारा नया जन्म ही इस बात की सूचना है कि तुमने कुछ पाया है और यह नूतनता तुम्हें निस्पृह बनाती है। तुम सबके मध्य हो, पर सबसे परे। तुम्हारे संसार के साथ सम्बन्ध आकाश जैसे हो जाते हैं। आकाश पूरे भूतल पर छाया हुआ है लेकिन कहीं भी पृथ्वी से संयोजित नहीं है। कभी-कभी आभास भी होता है कि शायद पृथ्वी को छू रहा है, लेकिन वहाँ जाकर तुम पाते हो कि नहीं, आकाश तो अपनी पूरी ऊँचाई पर है। वह पृथ्वी से दूर, बहुत दूर है। पृथ्वी को छाया दे रहा है, लेकिन कोई लगाव नहीं है। तुम भी पृथ्वी और आकाश के समान हो जाओ। तुम्हारा शरीर पृथ्वी है और चेतना आकाश है। दोनों बिल्कुल पृथक् हैं। आत्मा चेतना को प्राणवत्ता दे रही है, चेतना शरीर को प्राणवत्ता दे रही है। जब शरीर और चेतना की पृथक्ता का बोध हो जाता है तभी ध्यान की गहरी भूमिका निर्मित होती है। और तब प्रतीति होती है—'मुक्ति मानव मात्र का, जीवन का अधिकार।'

चेतना के तल पर मुक्ति हर मनुष्य का अधिकार है । यदि तुम्हें जन्म मिला है तो मृत्यु निश्चित ही होगी, लेकिन अभी तुम जीवन मृत्यु के खेल में लगे हुए हो, पर जिस दिन मुक्ति की अभीप्सा जग जाती है तुम पाते हो यह मुक्ति जीवन का अधिकार है। अगर जीवन पाया है तो मुक्त भी होना है। मुक्ति हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। इसलिए अपनी क्षमताओं को पहचानो, अपनी संभावनाओं को खोजो। मनुष्य ही एकमात्र सत्ता है जो अपने में असीम संभावनाओं को लिए हुए है; और मुक्त होना उसकी क्षमता है, संभावना है, आत्मा का स्वभाव है। अपने स्वभाव से परिचय बनाओ और मुक्ति के द्वार खोलो।

आखिर कब तक जड़, भौतिक और पुद्गल पदार्थों की आसक्ति में जीवन-यापन करते रहोगे। अपने स्वभाव को पहचानो, अपनी निस्पृहता को पहचानो और राग के द्वार से मुक्त होकर विराग में प्रवेश करो। धीरे-धीरे विराग से भी मुक्त होकर वीतरागता में प्रवेश करो। ध्यान का मार्ग राग-विराग से मुक्ति का मार्ग है, वीतरागता की उपलब्धि का मार्ग है। संबोधि-सूत्र कह रहे हैं कि ध्यान की रोशनी पाकर, ध्यान का प्रकाश पाकर हम कर्म-परमाणुओं से स्वयं को मुक्त करें। यह चेतना मुक्त-विहार कब कर सकेगी—'मन की खटपट जो मिटे, तो हो मुक्त विहार।' मन में जो ऊहापोह हर समय चलती रहती है जब उससे अलग हट जाओगे तभी कुछ हासिल कर पाओगे। अन्यथा तुम्हारा चंचल मन हर जगह कैंची लिए खड़ा रहता है और उसकी कतरब्यौत चला करती है। ध्यान में डूबकर जब मन की निरंतरता टूट जाएगी, तब चेतना के पंख खुलेंगे। अभी तो मन का हस्तक्षेप जारी है। इसे समाप्त करना होगा। तभी भीतर का नंदनवन पूर्ण रूप से खिलेगा। फिर इस नंदनवन में विचरण करने पर आनन्द की बौछार होगी, उत्सव की गरिमा होगी, जीवन की धन्यता होगी।

आपके जीवन में आनन्द की वर्षा, उत्सव का वातावरण और परम धन्यता की स्थिति निर्मित हो, ऐसी ही मंगलकामना है।

ओम् शांति ।

□ □

साक्षी-भाव : ध्यान का आधार

जिस व्यक्ति के नाम पर हम अपने देश को भारत कहते हैं, घटना उसी से सम्बद्ध है। कहते हैं कि सम्राट भरत एक दफा तीर्थकर आदिनाथ की सन्निधि में थे। चर्चाएँ चल रही थीं। चर्चा के दौरान ही भरत ने अपने पिता आदिनाथ से पूछा कि प्रभु, मृत्यु के बाद मेरी गति क्या होगी? भगवान ने उसका भविष्य निहारा और कहने लगे—भरत, तुम्हारी मृत्यु के बाद गति नहीं होगी। तुम मुक्त हो जाओगे। भरत काफी प्रसन्न हुआ, लेकिन उसके पास बैठा हुआ व्यक्ति कहने लगा कि कमाल के भगवान हैं। उस भरत के लिए मोक्ष की बात करते हैं, जो अखिल विश्व का अधिपति है, चक्रवर्ती है, जिसके पास अपार सैन्यदल है, राजरानियाँ हैं, इतना आरम्भ-समारम्भ है! उसने खड़े होकर कहा—प्रभु, क्षमा करें। मुझे तो भरत को मोक्ष दिए जाने की बात उचित नहीं जान पड़ती।

धर्म-सभा समाप्त हुई, भरत अपने राजमहल में लौटकर आए। जैसे ही राजसभा प्रारम्भ हुई कि भरत ने सैनिकों को आदेश दिया कि जाओ, उस व्यक्ति को लाओ जो कह रहा था कि उसे भरत के मोक्ष पर संदेह है। मुझे उससे इस बात का स्पष्टीकरण चाहिए। सम्राट के आदेश पर सैनिक गए और उस व्यक्ति को पकड़कर ले आए। वह काफी घबराया हुआ था और मन-ही-मन पश्चाताप कर रहा था कि कहाँ बैठे-बिठाए मुसीबत मोल ले ली। पता नहीं, सम्राट के मन में क्या आए और क्या आदेश दे बैठे। खैर, वह व्यक्ति राजसभा में पहुँचा। सम्राट ने उससे कहा—आज नगर को सजाया गया है। मैं तुम्हारे हाथ में तेल से भरा कटोरा दे रहा हूँ। तुम नगर में घूमकर आओ और नगर के प्रमुख स्थलों की सजावट के बारे में विवरण दो। हाँ, एक बात ध्यान रखना

कि तुम्हारे तेल के कटोरे से एक बूंद तेल भी बाहर नहीं गिरना चाहिए, वरना तुम्हारे पीछे नंगी तलवार लेकर चल रहे सैनिक तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे। वह घबराया, लेकिन करे तो क्या, जब सम्राट का आदेश हो। उस व्यक्ति को तेल से लबालब कटोरा दिया गया। उसके पीछे-पीछे दो सैनिक नंगी तलवार लिये चल रहे थे। वह व्यक्ति शहर में घूमने निकल पड़ा। वह पाँच-छः घंटे तक शहर में घूमने के बाद वापस राजमहल में पहुँचा।

सम्राट ने पूछा—क्या तुम शहर में घूम आए ? उसने कहा—हाँ राजन्, मैं घूम आया। सम्राट ने पूछा—अच्छा, तुमने शहर में क्या-क्या देखा ? उस व्यक्ति ने जवाब दिया—मैं क्या देखता राजन्! मैं तो इसी ध्यान में लगा रहा कि कटोरे से तेल की एक बूंद भी बाहर न गिर जाए। मेरी नजर तो कटोरे पर ही लगी रही, इसलिए मैं कुछ भी न देख पाया। सम्राट भरत मुस्कराए और कहने लगे—जैसे तुम्हारी नजर तेल के कटोरे पर थी, और तुम कुछ भी न देख पाए, उसी तरह मेरी दृष्टि मेरी आत्मा पर केन्द्रित है। यद्यपि मैं संसार में जी रहा हूँ, लेकिन मुझे मेरी आत्मा के सिवा कुछ भी नजर नहीं आता है। मेरा लक्ष्य आत्म-संबोधि है, आत्म-मुक्ति है।

संसार एक चक्र है, जो निरंतर गतिशील है। वह व्यक्ति संसार के चक्र से अलग हो जाता है, इससे मुक्त हो जाता है, जो चक्र के मध्य की कील के समान अडिग रहता है। वह संसार में संयोजित रहकर भी परिभ्रमण से मुक्त रहता है। वह संसार से संयोजित रहकर भी परिभ्रमण से मुक्त रहता है। हम जो ध्यान-सूत्रों कि गहराई में उतर रहे हैं, इनका मूल तात्पर्य यही है कि हम चाहे संसार में जीएं, परिवार के बीच जीएं, सत्ता-संपत्ति बटोरते रहें, पर इसके बावजूद हम इन सभी से निर्लिप्त बने रहें। अगर अपनी दृष्टि आत्मकेन्द्रित बनाए रखोगे, तो धीरे-धीरे संसार-मुक्त हो जाओगे।

व्यक्ति ने मानव-जीवन पाया है, तो इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि वह संसार में रच-बस जाए और जब जिंदगी पूरी हो जाए, तो रवाना हो जाए। इस तरह तो पता नहीं इस आत्मा ने कितने-कितने जन्मों तक यह देह पाई है। कभी इस कुल में कभी उस कुल में पैदा हुए, कभी इस प्रदेश में कभी धरती के दूसरे छोर के अनजाने नगर में जन्म लिया। तुम जहाँ-जहाँ पैदा हुए, वहीं-वहीं का राग कर बैठे। अगर तुम जैन कुल में पैदा हुए, तो तुम्हारा राग महावीर से हो गया, शांतिनाथ और कल्पसूत्र से हो गया; अगर तुम हिन्दू कुल में जन्मे तो तुम्हारा राग राम-कृष्ण, गीता-रामायण और मंदिरों से हो गया। जन्मजन्मांतर से इस शरीर ने जाने कितने-कितने धर्मों का परिवर्तन किया है।

क्या आप यह समझते हैं कि आप शाश्वत रूप से हिन्दू रहते आए हैं या शाश्वत रूप से जैन अथवा बौद्ध रहते आए हैं ? नहीं, यह नहीं हो सकता। चेतना तो जन्मजन्मांतर से देह से सम्बन्ध जोड़ती-तोड़ती रहती है और उसे जैसी अनुकूलता मिले, उसी के अनुरूप निर्माण कर लेती है।

मूलतः हमारी यही त्रुटि रही कि हमने आत्मबोध नहीं पाया। हम लोगों ने आत्म-तत्त्व की प्ररूपणा नहीं की और न अन्तर-संवेदनाओं को पहचाना। हम अपने चित्त में चलने वाली वृत्तियों को, विकारों को न पहचान पाए। परिणामतः ऐसा कोई धर्म, देश, भाषा नहीं होगी, जिसमें हमने जन्म न लिया हो। तुम्हारा जो बाह्य अस्तित्व, बाह्य व्यक्तित्व है, वही बार-बार आरोपित होता रहा और तुम अपनी वृत्तियों का विशोधन नहीं कर पाए। तुमने संन्यास भी लिया, संसार भी छोड़ा लेकिन आत्मबोधि को उपलब्ध नहीं हो पाए।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं—

बहु पुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव ना मल्यो।
तो भी अरे भवचक्र नो, आंटो नहीं एके टल्यो।।

जन्मों-जन्मों तक पुण्य करने के बाद तुम्हें मानव-देह मिली। इसके बावजूद आत्मबोधि के अभाव में, आत्मशुद्धि के अभाव में तुम बंधनों से मुक्त नहीं हो पाते। यही नहीं, और नए-नए बंधन तुम अपनी जिंदगी में बांध लेते हो। दुनिया के सभी शास्त्रों का, सभी पंथ-सम्प्रदायों का एक ही सार है कि तुम आत्मशुद्धि को उपलब्ध होओ। अपनी बुराइयों को चुन-चुनकर बाहर निकाल फेंको। अपने भीतर के पात्र को बल्किल निर्मल और पवित्र कर लो। तुम्हारा दर्पण रजरहित हो जाए। अगर तुम चेतना का रूपान्तरण नहीं कर पाए, तो अतीत के संवेग आत्मा के साथ चलते रहेंगे। नतीजतन जन्मों-जन्मों तक धर्म-अध्यात्म, सद्गुरु की सन्निधि और पवित्र मार्ग मिलने के बावजूद तुम भीतर की पवित्रता को आत्मसात नहीं कर पाओगे। ये जो संबोधि-सूत्र के पद हैं, इनका मूल भाव यही है कि तुम आत्मबोधि को, आत्मशुद्धि और आत्म-मुक्ति को उपलब्ध कर लो।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम बाहर से तो साधुता का प्रदर्शन कर रहे हो और तुम्हारे भीतर वृत्तियों में, विचारों में, तुम्हारे भीतर रहने वाली ग्रंथियों में कहीं-न-कहीं सूक्ष्म रूप में संसार की तमन्नाएँ छिपी रह गईं। एक बात ध्यान रखना कि जैसे ही पहली बार तुम भीतर प्रवेश करोगे, अंधेरा नजर आएगा। दूसरे चरण में अंधकार कुछ कम होगा। तीसरे-चौथे चरण में उतरोत्तर कम

होता जाएगा। जैसे-जैसे तुम्हारी चेतना के इर्द-गिर्द मंडराने वाले कोहरे को तुम नीचे गिराओगे, वैसे-वैसे तुम्हारे भीतर छिपा हुआ प्रकाश ज्योतिर्मय होकर बाहर आएगा। दुनिया में जितने संत हुए चाहे वे आनंदघन हों, चाहे वे कबीर हों, चाहे दादू या रैदास—उन सब लोगों के शास्त्रों का, पदों का एक ही सार रहा है कि जिस सूर्य को तुम बाहर निहार रहे हो, ऐसे सौ-सौ सूर्य तुम्हारे भीतर छिपे हुए हैं, अगर व्यक्ति उस राह से गुजरे ही नहीं, तो इसका बोध कैसे हो।

ऐसा कभी नहीं हुआ, न होता है कि व्यक्ति माँ के पेट से निकलते ही युवा बन जाए। एक क्रमिक विकास होता है जिसके बाद ही एक आयु विशेष के द्वार तक पहुँचा जाता है। साधना के मार्ग पर भी क्रमिक विकास होता है। यह तो बीज है, जिसे बहुत संभालना पड़ता है। सधन साधना करनी होती है। बीज अगर बोया है, तो उसकी देखभाल तो करनी ही होगी। एक दिन में पौधा नहीं बनेगा और न शीघ्र ही फल आएंगे। हाँ, घास-पात जरूर अपने आप उग आएगा। ऐसे ही साधना को गहराई से संभालना होता है। कदम डगमगाएंगे, कई बार असुरक्षा भी जन्म लेगी लेकिन भीतर की सजगता के साथ उस बीज की रक्षा करनी होगी।

साधना के मार्ग पर भी लाखों-लाख कदम उठते हैं। उनमें से कुछेक ही सफल हो पाते हैं। साधक के मार्ग में कई विचलन के छिलके, कई कांटे, कई पथरीले मार्ग आते हैं। जैसे ही वह साधना का प्रारम्भ करता है, उसके भीतर सोए हुए अतीत के कर्म-परमाणु जाग्रत होते हैं। और वे उसकी साधना को तिरोहित करने के लिए, उसे तोड़ने के लिए हावी होने शुरू हो जाते हैं। जो व्यक्ति गहरे धैर्य के साथ, गहरे संकल्प के साथ कदम आगे बढ़ाता है, वह सफलता के द्वार पर पहुँच सकता है।

मेरे प्रभु, एक बात खयाल में रखने जैसी है कि तुम चाहो तो एक वर्ष में करोड़पति बन सकते हो, लेकिन एक वर्ष में ज्ञानी नहीं बन सकते। दीर्घ तपस्याएँ करके भी आत्म-तत्त्व को उपाार्जित कर लो, यह निश्चित नहीं है। यह जो भीतर की यात्रा है, इसे प्रायः यह कहकर छोड़ दिया जाता है कि यह अंधेरे की यात्रा है। जब तक अंधेरे को नहीं देखोगे, प्रकाश का मूल्य नहीं कर पाओगे। रात के अंधकार के बाद ही सुबह के सूरज की किरणें इतनी मनोरम और सुखदायी लगती हैं। इसलिए जो व्यक्ति प्रकाश को चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह अंधेरे से गुजरे। सूर्योदय की भोर पाने के लिए हमें रात से गुजरना पड़ेगा, चेतना में छिपी हुई दिव्यता को, प्रकाश के

पुंज को उपलब्ध करने के लिए हमें अंधकार से गुजरना पड़ेगा। जो व्यक्ति अंधकार से भयभीत नहीं होगा, वही व्यक्ति प्रकाश के करीब पहुँच पाएगा।

संबोधि-सूत्र के आज के पद हमें अपनी वृत्ति को समझने, साक्षी-भाव से गुजरने का बोध दे रहे हैं। ये हमें जीवन का संदेश दे रहे हैं कि बार-बार जन्म लेने और चिता में जलने के बावजूद चेतना यथावत है। वह शाश्वत और चिरंतन है। हमारे यहाँ पुनर्जन्म की कल्पना है और उसके गलत अर्थ लगा लिए गए। हम सब आलसी हो गये। सोचते हैं अरे इस जन्म में तो भोग कर लिया जाए, अगले जन्म में धर्म कर लेंगे। हम इसी को बार-बार दोहराते चले गये और पुनर्जन्म की परिकल्पना थी कि तुम बार-बार इसी तरह जीते-मरते रहोगे आखिर इस चक्र से ऊबते नहीं हो। अब तो जानो, अब तो समझो और इस पुनर्जन्म से छुटकारा पाओ। और यह छुटकारा मिलता है स्वयं के अन्तर्जगत में प्रवेश करने से।

संबोधि-सूत्र के आज के पद हमें अपनी वृत्ति को समझने, साक्षी भाव से गुजरने का बोध दे रहे हैं। ये हमें जीवन का संदेश दे रहे हैं। पद है—
समझे वृत्ति स्वभाव जो, साक्षी-भाव के साथ।
तो समझो होने लगा, उर में सहज प्रभात।।
रूप बने बन-बन मिटे, चिता सजी सौ बार।
जन्म-जन्म के योग को, दोहराया हर बार।।
संबोधि से टूटती, भव-भव की जंजीर।
जरा झाँक कर देख लो, अंतर में महावीर।।

अगर व्यक्ति साक्षी-भाव को ग्रहण कर ले और अपने मन में उठने वाली उधेड़बुन को, भीतर की उठापटक को साक्षी-भाव से निहारने की कोशिश करे, तो व्यक्ति अन्तः की समाधि को उपलब्ध कर सकेगा। परिणामतः उस प्रभाव से व्यक्ति अपने भीतर पलने वाली वृत्तियों को धीरे-धीरे शांत और सहज कर लेगा। मेरे प्रभु, ध्यान रखिएगा कि ध्यान कोई कृत्य नहीं है। ध्यान हमारा स्वभाव है। यह तो देह, मन और विचारों की क्रिया से शून्य होना है। ध्यान का लक्ष्य है कि व्यक्ति अपनी वृत्तियों से मुक्त हो जाए, अपने देह-भाव से मुक्त हो जाए।

तुम्हारी आत्मा का स्वभाव कोई भाषा, देश या जाति नहीं है। तुम्हारी आत्मा का स्वभाव विशुद्ध, निर्मल अध्यात्ममय चेतना है। तुम्हारी चेतना का यह परम स्वभाव है कि वह अविनाशी है, चैतन्यरूप, ज्योतिस्वरूप है। ध्यान का मूल कृत्य है कि वह तुम्हें मूल स्वभाव में ले आए। तुम्हारे चित्त की भावदशाएँ

जब संसार से जुड़ती हैं तो जीवन में संसार का निर्माण होता है और जब चित्त की भावदशाएँ संसार से टूटती हैं, संसार से विलग होती हैं तब जीवन में समाधि घटित होती है। समाधि और संन्यास मात्र बाह्य रूपान्तरण नहीं है। इनकी उपलब्धि तुम्हारी अन्तर्वृत्ति के विशोधन या उसकी कलुषता पर निर्भर है। जितने सहज, सरल और निर्मल होते जाओगे, संन्यास और समाधि के उतने ही निकट होंगे, लेकिन अन्तर्वृत्ति की कलुषता अधिकाधिक संसार में ले जाएगी।

अगर कोई व्यक्ति यह समझे कि सफेद कपड़े पहन लेने से या शरीर पर भभूत रमा लेने से साधुता घटित हो जाएगी, तो यह सोचना बेबुनियाद है। अगर आप बाह्य वेश देखकर प्रणाम करते हैं, तो मैं कहूँगा कि मुझे ऐसे प्रणाम की कोई अपेक्षा नहीं है। उन प्रणामों का, नमन या नमस्कार का कोई तात्पर्य नहीं है। तुम्हारा वह प्रणाम भौतिक होगा, क्योंकि ये कपड़े, वेश-बाने जड़ हैं, जिनमें कोई चेतना नहीं है।

पहला चरण यही कहता है कि तुम अपनी वृत्तियों को बारीकी से देखो। देखो कि कौनसी वृत्ति आ रही है, कौनसी वृत्ति जा रही है। कौनसी वृत्ति शुभ है, कौनसी वृत्ति अशुभ है; कौनसी वृत्ति कल्याणकारी है और कौनसी वृत्ति तुम्हें गर्त में धकेल रही है। तुम्हारा मस्तिष्क अनर्गल विचारों का घर है। इसलिए तुम न शांति पा रहे हो, न आनन्द और न सहजता उपलब्ध कर पा रहे हो। तुम्हारा मस्तिष्क एक कचरा पेटी रह गया है, जो आया, सो उस पेटी में डालते गए। यह जानने की कोशिश नहीं की कि कौनसा विचार तुम्हारी साधना में सहायक है और कौनसा विचार तुम्हें विनाश की पगडंडी की ओर ले जा रहा है।

भगवान महावीर ने शब्द दिया—प्रेक्षाभाव। बुद्ध ने उसे कहा—विपश्यना यानी अपनी श्वास में उतरकर, भीतर प्राणधारा में उतरकर एक-एक वृत्ति को निहारना और उससे अपने को अलग कर लेना। अपनी हर आती-जाती श्वास का निरीक्षण करना। श्वास के प्रति इतनी जागरूकता आ जाए कि फिर कोई भी श्वास तुम्हारी साक्षी के बिना न हो सकेगी। श्वास के प्रति यह सजगता जीवन के हर क्षण के प्रति सजगता बन जाएगी। तुम देखते रहोगे और विस्मित हो जाओगे कि तुम्हारा धैर्य पनप रहा है। तब तुम क्रोध नहीं कर पाओगे, क्यों ? क्योंकि जब तुम क्रोध में होते हो तुम्हारी श्वास और ही ढंग से चलने लगती है। और श्वास के प्रति रहने वाला साक्षी तुरंत तुम्हें सचेत कर देगी। तब तुम क्रोध कैसे कर पाओगे। तुम साक्षी के भी साक्षी हो जाओगे।

संसार की तमाम ध्यान-विधियों का सार यही है कि व्यक्ति आत्म-भाव में आ जाए, परभाव से मुक्त हो जाए। अगर ऐसा हो जाए तो जानना कि तुम्हारे भीतर एक सहज प्रभात का उदय हो गया। बाहर का सूर्य तो हर सांझ अस्त हो जाता है, लेकिन भीतर अगर सूर्योदय हो गया है, तो उसका परिणाम यह होगा कि फिर कभी अंधेरा न होगा। बाहर की भोर, बाहर का अंधेरा दोनों क्षणभंगुर हैं, लेकिन भीतर की ओर अगर एक दफा उजाला हो गया, तो जिंदगी में कभी स्याह रात नहीं आएगी।

समझे वृत्ति-स्वभाव जो, साक्षी-भाव के साथ।

तो समझो होने लगा, उर में सहज प्रभात।।

मुक्ति का एकमात्र सूत्र है—साक्षित्व का उदय। मुक्ति की एक मात्र बाधा है—वृत्ति का अवरोध। तुम्हें मुक्ति चाहिए, तो वृत्तियों को जीतो, वृत्तियों से छुटकारा पाओ; तुम स्वयं को मुक्त ही पाओगे। वृत्ति ही भवभ्रमण का आधार है, वृत्ति ही मुक्ति की बाधा है। साक्षित्व चाहिए वृत्ति से मुक्ति के लिए रोशनी चाहिए तमस को हटाने के लिए।

अगला चरण है—

रूप बने बन-बन मिटे, चिता सजी सौ बार।

जन्म-जन्म के योग को, दोहराया हर बार।।

यह तुम्हारी आत्मा की आत्मकथा है। तुम्हारी सौ-सौ दफा चिताएँ सर्जी, बार-बार नए-नए रूप बनते रहे। सोने की तरह तुम्हारी काया रूप बदलती रही, कभी सोने से गले का हार बनाया जाता है, कभी वह हाथ की चूड़ी बनता है और कभी पाँव की पायल। फिर भी स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है। इसी तरह तुम्हारी चेतना सौ-सौ दफा जन्म-मरण के योग से गुजर जाने के बावजूद शाश्वत बनी रहती है। एक कुंभकार एक ही मिट्टी से घड़ा, दीपक, हंडिया और न जाने क्या-क्या बना लेता है। मिट्टी सबमें एक ही है, लेकिन रूप सब में अलग-अलग। आकारों में अलग-अलग ढंग से उसके अलग-अलग रूप निर्मित किए जाते रहे। अगर बाहर के रूपों को गिरा दिया जाए, तो फिर आत्मा ही शेष रहेगी और आत्मा, आत्मा में कोई विभेद नहीं होता।

संसार में रहते हुए व्यक्ति सम्मोहन से घिरा रहता है। कभी किसी से सम्बन्ध जोड़ता है और कभी किसी से सम्बन्ध तोड़ता है। ये सारे के सारे सम्बन्ध ऊपरी तौर पर स्थापित सम्बन्ध हैं। अगर इन सम्बन्धों के मूल में कुछ खोजोगे तो कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। मुझे याद है एक बच्चा जो स्कूल में पढ़ने के लिए जाता था, जाते समय रोजाना पेन्सिल ले जाना भूल

जाता था। स्कूल पहुँचता तो पता चलता कि पेंसिल नहीं है। इस समस्या से निजात पाने का उसने एक तरीका निकाला। उसने दो अलग-अलग बस्ते तैयार किए—एक बस्ता घर का और दूसरा बस्ता स्कूल का। दोनों में अलग किताबें, अलग कॉपियाँ और अलग ही पेंसिल-रबर आदि रखे। अब वह स्कूल की पेंसिल स्कूल में और घर की पेंसिल घर में इस्तेमाल करता।

कुछ दिन बीते। एक दिन वह स्कूल से घर आया तो पाया कि उसकी घर वाली पेंसिल नहीं मिल रही है। उसने बहुत ढूँढ़ा, लेकिन पेंसिल नहीं मिली। उसकी मम्मी ने उससे पूछा—बेटे, तू घंटे भर से कुछ खोज रहा है। आखिर खोज क्या रहा है? बेटे ने जवाब दिया—माँ, घर वाली! माँ हैरान कि घरवाली? यह आरोपित सम्बन्ध है। इसी प्रकार के न जाने कितने सम्बन्धों के ढेर हमने लगा लिए हैं और उनसे मोह कर बैठे हैं। सम्बन्ध हैं कोई बात नहीं, लेकिन उनके प्रति रहने वाले राग ने हमारी चेतना को गर्त में डाल दिया है। अपने मौलिक अस्तित्व को नहीं पहचान पा रही है।

प्रकृति की ओर से व्यक्ति का पहला अभिशाप या वरदान उसकी मौत के रूप में मिला। जिस तरह तुम धरती पर आए हो, उसी तरह तुम्हें धरती से वापस जाना ही पड़ेगा। हम सभी इस मौत की 'क्यू' में खड़े हैं। किसी का आज नंबर लग गया है और किसी का कल आएगा। और जो अपनी चेतना के अस्तित्व को जान गया, उसने यह भी जाना कि सौ बार जन्म और मृत्यु के मध्य से गुजर जाने के बाद भी एक ऐसा तत्त्व अवश्य विद्यमान है जो न जलता है, न मरता है, न कटता है। वह तो शाश्वत है, चिरंतन है, अजर है, अमर है।

रूप बने, बन-बन मिटे, चिता सजी सौ बार।

जन्म-जन्म के योग को, दोहराया हर बार।।

हमारा जीवन केवल दोहराव है, पुनरावृत्ति है। बोध अब भी नहीं है, सो पुनरावृत्ति के दौर जारी रहेंगे। चिता तक की यात्रा होती रहेगी। रूप बनते रहेंगे, मिटते रहेंगे और इस तरह हम भी बनते-मिटते रहेंगे। उत्पत्ति और विनाश से मुक्त होने के लिए ध्रुवत्व की ओर कदम उठाएँ, ध्रुवत्व की ओर आँख खोलें। आँखों में बसे ध्रुवत्व का नूर, आँख खुले ध्रुवत्व के प्रकाश में।

संबोधि-सूत्र का अगला चरण है—

संबोधि से टूटती, भव-भव की जंजीर।

जरा झाँककर देख लो, अन्तर में महावीर।।

प्रश्न किया गया कि मनुष्य की जो भव-भव की शृंखलाएँ हैं, उनको तोड़ने का उपाय क्या है ? तो जवाब आया कि 'संबोधि से टूटती, भव-भव की जंजीर।' संबोधि यानी सम्यक् दृष्टि। जो चेतना आत्मबोधि को उपलब्ध हो चुकी है, जिसने यह पहचान लिया है कि शरीर अलग है, चेतना अलग है, जो देह में रहते हुए देहातीत भाव को जी रहा है, वह व्यक्ति संबोधि की सुवास उपलब्ध कर पाता है। जिसने सम्यक् दृष्टि पा ली, अंधेरे से मुक्ति की ओर बढ़ गया। क्या सूर्य के सामने कभी अंधकार टिक पाया है ?

कहते हैं कि एक दफा भगवान विष्णु ने सूर्य को बुलाया और कहा—सूर्यदेव, अंधकार तुमसे बहुत नाराज है। तुम अंधकार की तरफ ध्यान क्यों नहीं देते। सूर्य ने कहा—प्रभु, मैं तो किसी को नाराज नहीं करता। ऐसा करें कि अंधकार को मेरे सामने बुलाएँ, मैं उससे माफी माँग लूँ। भगवान विष्णु ने कहा—सूर्यदेव, यह सम्भव नहीं है कि अंधकार आपके सामने आए। सूर्य ने कहा—तब मैं क्या समाधान बताऊँ ? जिस दिन अन्तस् में सूर्योदय हो गया, उस दिन सारा अंधकार स्वयंमेव तिरोहित हो जाएगा, अंधकार तुम्हारे इर्द-गिर्द मंडरा भी नहीं पाएगा।

तुम जरा भीतर उतरकर देखो, भीतर को टटोलकर देखो, तो तुम्हें पता लगे कि जिस दिव्यता की तलाश तुम पूरे ब्रह्माण्ड में कर रहे हो, वह तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है।

अगर तुम खोजो तो वह तुम्हें तुरंत मिल सकता है। तुम उसे कहाँ-कहाँ खोज रहे हो। वह तो तुम्हारी हर सांस में मौजूद है, तुम्हारे रोम-रोम में, तुम्हारे अस्तित्व में विचर रहा है। अपनी एक-एक वृत्ति, एक-एक ग्रंथि को पहचानो और साक्षी-भाव से उससे मुक्त होने की कोशिश करो। जो व्यक्ति तटस्थ-भाव में उतरता है, वह व्यक्ति आत्मज्ञ हो जाता है। संबोधि को उपलब्ध कर लेता है, भव-भव की जंजीरों से मुक्त हो जाता है। संबोधि ही वह साधन है, सम्यक् बोध, सम्पूर्ण बोध ही वह आधार है, जिससे टूटती है भव-भव की जंजीर, अन्तर्मन की ग्रन्थियाँ। संबोधि के प्रकाश में ही आदमी जानता है कि महावीर स्वयं समाये हैं उसकी अपनी अन्तरात्मा में। महावीर किसी ठौर ठिकाने पर नहीं रहते, वे रहते हैं, घर-घर में, हर अन्तस् में। जरा झाँक कर देख लो अन्तस् में महावीर। अन्तरजगत में उतरने का, आने का निमन्त्रण है, दर-दर भटकती चेतना, दर-दर भटकती आत्मा, दर-दर भटकता पंछी लौटे अपने घर में, अन्तर के घर में, स्वयं के घर में। अपने मालिक हम आप हों।

□ □

प्रेम का विस्तार

मैंने सुना है : एक सम्राट अपने रथ में बैठकर राजमार्ग से गुजर रहा था। सम्राट की नजर एक वृद्ध पर पड़ी जो अपने सिर पर गड्ढर रखे हुए पैदल चला जा रहा था। उस वृद्ध की कमर झुकी हुई थी, चेहरे पर झुर्रियाँ थीं, हाथ में एक डंडा पकड़े हुए वह धीरे-धीरे चल रहा था। सम्राट का रथ जब वृद्ध के पास से गुजरा, तो उसने रथ रुकवाया और वृद्ध से कहा—तुम पैदल क्यों चल रहे हो, तुम बहुत वृद्ध हो चुके हो, मेरे साथ रथ पर आकर बैठ जाओ। वृद्ध ने इंकार कर दिया। उसने कहा—सम्राट, मैं ठहरा एक गरीब आदमी। मैं आपके साथ रथ पर कैसे बैठ सकता हूँ? सम्राट ने जब उससे अधिक ही आग्रह किया, तो वह सहमत हो गया और रथ में बैठ गया।

सम्राट ने देखा कि वृद्ध व्यक्ति रथ पर तो बैठ गया, लेकिन सिर का गड्ढर सिर पर लिये बैठा है। सम्राट ने वृद्ध से कहा—तुमने इस गड्ढर को सिर पर क्यों रखा है? इसे भी रथ पर क्यों नहीं रख देते? वृद्ध ने कहा क्षमा करें महाराज! मैं रथ पर बैठा हूँ, यही काफी है। मैं इस अतिरिक्त भार को रथ पर रखने की गुस्ताखी कैसे कर सकता हूँ? सम्राट मुस्करा दिया। आज हर आदमी की स्थिति कुछ ऐसी ही है। सम्राट का रथ तो बैठने को मिल गया है, लेकिन सिर पर धरा गड्ढर का भार नीचे नहीं उतारता। सम्राट को निमंत्रण इसलिए है कि तुम कुछ सुस्ता सको। जीवन को निर्भार और स्वस्थ कर सको।

आज हमारा मन ही कारागार बन गया है। और हम स्वयं उसमें कैद होकर रह गए हैं। एक मनुष्य के लिए बाहर के कारागार से मुक्त होना आसान है, लेकिन मन के बंधनों से मुक्त होना बहुत कठिन है। एक व्यक्ति जो लोहे

की जंजीर से बंधा हुआ है तो हमें दिखाई पड़ेगा कि वह बंधन में बंधा है और दूसरा व्यक्ति जो सोने की शृंखला से आबद्ध है, उस व्यक्ति के लिए हम कहेंगे कि वह उसका शृंगार है लेकिन मन का कारागार बहुत सूक्ष्म है फिर वह स्वर्ण-पिंजर हो या लौह-शृंखला, हमारी चेतना उसमें बंधी हुई है, परतंत्र है। एक पक्षी भले ही मुक्त गगन में विहार करते हुए मुश्किल से दाना-पानी चुगे, फिर भी वह खुश है। इसके विपरीत एक स्वर्ण-पिंजरे में आबद्ध पक्षी को अगर रोज खाने को दाने मिल जाएं, तो भी वह पिंजरे में है, आबद्ध है। वह अपने पंख फँलाना चाहता है, मुक्त गगन में उड़ान भरना चाहता है।

मुझे तो यों लगता है कि मनुष्य की स्थिति भी हू-ब-हू वैसी ही है, जैसी उस पक्षी की, जो मुक्त गगन में उड़ान भरना चाहता है, लेकिन उसे पकड़कर पिंजरे में डाल दिया गया है। क्या हमने अपने अंतर्-अस्तित्व में यह तलाशने की कोशिश की है कि हमारी आत्मा कितने-कितने बंधनों से बंधी हुई है ? अगर यह तलाश कर पाए तो पाआगे कि व्यक्ति भले ही बाहर से उन्मुक्त दिखाई दे रहा है, लेकिन अन्तर्-व्यक्तित्व में अनेकानेक बंधन हैं। जो बाहर से लोहे के बंधनों से बंधा हुआ है, वह तो दिखाई दे रहा है, लेकिन क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी चेतना कितने-कितने बंधनों से बंधी हुई है ? मनुष्य जन्म-जन्मांतरों से कितने ही बंधनों को साथ लेकर आता है। लेकिन जान नहीं पाता। स्थिति तब और भी विचारणीय हो जाती है, जब व्यक्ति बंधनों से ही राग कर बैठे।

कहते हैं : एक राजकुमार का राज्याभिषेक हुआ। उस खुशी में उसने राज्य के कैदखाने के सारे कैदियों को मुक्त कर दिया, लेकिन जब सांझ ढलने को आई, तो हालत यह हो गई कि जितने कैदी छोड़े गए थे, उनमें से अस्सी फीसदी सांझ को वापस आ गए। वे कैदखाने के द्वार पर धरना देकर ही बैठ गए कि हम तो कैदखाने में ही रहेंगे। सम्राट आश्चर्यचकित था कि मैंने तो इन्हें मुक्त किया है, लेकिन ये तो वापस आना चाहते हैं और तर्क भी दे रहे हैं कि हम तो इस कैदखाने में बरसों से रह रहे हैं, अब इससे अलग कैसे हो सकते हैं, यह तो हमारा घर है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें व्यक्ति को बंधन से भी राग हो चुका है। कारागार भी जिसके लिए महल हो चुके हैं। जंजीरों से भी राग ! ओह हमने जिसे सुख समझा, वही बंधन हो गया। बाहर के बंधनों से तो मुक्त भी हुआ जा सकता है, लेकिन भीतर के बंधन इतने गहरे हो गये हैं कि उन बंधनों से मुक्त हो पाना बहुत मुश्किल प्रतीत होता है। भले ही तुम बाह्य तौर पर वृद्ध दिखाई देते हो, लेकिन भीतर तो तरंगें अभी भी जीवित हैं। आचार्य शंकर अस्सी-नब्बे साल के वृद्ध को यही संदेश दे रहे हैं

कि जरा सोच, अब तेरा शरीर कृश हो गया है, कमर झुक गई है, आँखों से दिखाई नहीं देता, सिर के बाल सफेद हो गए हैं, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, अब तो अपने मन को टटोल, अपने भीतर पलने वाले बंधनों को टटोल और देख कि तू अब भी संसार से कितना आबद्ध है, कितना जकड़ा हुआ है, संसार के प्रति कितना आसक्त है।

अंगं गलितं पलितं मुंडं,
 दशन विहीनं जातं तुंडम् ।
 वृद्धो याति गृहीत्वा दंडम्,
 तदपि न मुंचत्याशा पिंडम् ॥

अंग गल गये, सिर के बाल पक गए, दांत गिर गए, कमर झुक गई, सहारे के लिए लकड़ी हाथ में थामनी पड़ती है, ऐसी स्थिति हो गई है, लेकिन फिर भी आशा न मरी, आशा न छूटी, आसक्ति के प्रपंच से मुक्त न हुए। सोचो, वृद्ध आखिर किसकी शरण गहेंगे। संबोधि रंग के प्रकाश में आओ। यह वृद्ध के लिए जीने का सहारा है, जवान के लिए मील का पत्थर है, किशोर के लिए नई संभावनाओं को तलाशने की प्रेरणा है।

हम संबोधि-सूत्रों से गुजर रहे हैं, जो दुनिया भर के फूलों से निचोड़कर बनाया गया इत्र है। अगर व्यक्ति इस सार को स्वीकार कर लेता है, तो परिणाम यह होगा कि तुम भले ही संसार में रहोगे, लेकिन तब जीने की एक व्यवस्था होगी। एक अलग ही ढंग होगा, फिर तुम्हारा जीवन शांतिमय, आनंदमय होगा। तुम अगर जीवन को संबोधिमय बना लेते हो, तो शांति स्वतः तुम में झरेगी, सुख स्वतः तुम में बरसेगा, आनंद तुम्हारे रोम-रोम में नृत्य करेगा। वैदिक परम्परा में जिंदगी को जीने की व्यवस्थाएँ दी गईं कि व्यक्ति अपनी जिंदगी के चार विभाग करे। जिसमें पहला भाग ब्रह्मचर्य, दूसरा गृहस्थ, तीसरा वानप्रस्थ और चौथा संन्यास है। हम इसी अनुक्रम से बालक, वयस्क, प्रौढ़ और वृद्ध होते हैं। यहाँ पर भी सभी आयुवर्ग के हैं, लेकिन मैं अधिकांश प्रौढ़ और वृद्ध ही देख रहा हूँ। वेद-वर्णित वानप्रस्थ आश्रम में या उसकी ओर अग्रसर होते हुए, लेकिन यहाँ क्या किसी ने भी वानप्रस्थ स्वीकार किया है ?

वानप्रस्थ की पहचान क्या? क्या बालों की सफेदी वानप्रस्थ की द्योतक है ! अब तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि नवजात शिशु के भी श्वेत केश हो सकते हैं और पचास वर्षीय व्यक्ति बालों को रंगकर अपनी उम्र छिपा सकता है। फिर वानप्रस्थ की पहचान कैसे हो? जब आप अपनी नैतिक जिम्मेदारियों

को पूर्ण कर लेते हैं, आप वानप्रस्थ के अधिकारी हो जाते हैं। अन्यथा आप कभी भी संसार से हटना ही नहीं चाहेंगे।

अपने जीवन में पनपने वाली बुढ़ापे की प्रवृत्ति को आखिर हम कब तक दफनाते रहेंगे? हम शरीर की चाहे जितनी साज-सज्जा कर लें, मन की चाहे जितनी इच्छाएँ पूर्ण कर लें, लेकिन इनमें से कुछ भी हमारे साथ नहीं जाने वाला है। अपने हर 'मेरे' को टटोलें कि क्या यह मेरे साथ जाएगा ? सूरत में एक जाति है, उन में जब किसी की मृत्यु हो जाती है, तो एक विचित्र परम्परा है कि उसके परिजन अपने धर्मगुरु के पास जाते हैं। उन्हें दान-दक्षिणा देकर भगवान के नाम एक चिट्ठी लिखवाते हैं कि इसने बहुत धर्म किया है, बहुत पुण्य कमाया है तथा मृत्यु के बाद बहुत दान दिया गया है। हे भगवान, इसको सर्वसुख सम्पन्न स्वर्ग प्रदान करना। जब शव दफनाया जाता है, तो उस चिट्ठी को भी उसके साथ दफना दिया जाता है।

विचारणीय है कि क्या यह चिट्ठी कभी भगवान के पास पहुँच भी पाती होगी या कि उसी शव के साथ नष्ट हो जाती होगी। जब तुम्हारा चेतन तुम्हारे शरीर से अलग हो गया, तो इस माटी का क्या ? यह तो माटी में ही मिल जाने वाला है। हाँ, अगर तुम्हारे चैतन्य ने कुछ संपदा कमाई हो, तो निश्चित ही वह उसके साथ जाएगी। चेतना का विकास शरीर में रहकर होता है, लेकिन शरीर से राग, मोह हो जाने पर शरीर के साथ कुछ भी नहीं जाता।

एक व्यक्ति किसी पेड़ की शाखा से लटका हुआ है। पेड़ की उस शाखा के नीचे कुआँ है। कुएं में अजगर मुँह खोले बैठा है उसे निगलने के लिए और जिस डाली पर वह लटका हुआ है, उसे चूहे कुतर रहे हैं। वह देख रहा है, अगर यह चूहा इसी तरह कुतरता रहा तो डाली टूट जाएगी, मैं कुएं में गिर जाऊंगा और यह अजगर मुझे निगल जाएगा। तभी उसके होठों पर, पेड़ पर लगे शहद के छत्ते से शहद की एक बूंद आकर गिरती है, वह उसका स्वाद लेता है। दूसरी बूंद गिरती है, तीसरी बूंद गिरती है और वह उसके स्वाद में मशगूल होता जाता है। तभी ऊपर से एक विमान गुजरता है। विमान चालक उसे सचेत करता है कि डाल गिरने वाली है, इसलिए वह विमान की रस्सी पकड़ ले, लेकिन वह कहता है—दो मिनट और ठहरो। दो बूंद मधुरस और पी लूं, फिर चलूं। समय बीतता है, रसास्वादन के फेर में शाख टूट जाती है और वह कुएं में जा गिरता है। इसी तरह जब कभी मुक्त होने की वेला आती है, तुम्हें बंधन भी दिखाई देते हैं और तुम्हारा मन कहता है कि ये बंधन भी रसोत्पादक

हैं, इन बंधनों में भी बड़ा रस आ रहा है। थोड़ा और पी लूं। जितनी बार मिट्टी से मिट्टी का खिलवाड़ होता है, क्षण भर के लिए वैराग्य पैदा होता है और फिर इसी संसार के प्रपंचों में जा डूबते हैं।

संबोधि-सूत्र के पद हैं—

सोने के ये पिंजरे, मन के कारागार।
 टूटे पर कैसे उड़े, नभ में पंख पसार।।
 हर मानव से प्रेम हो, हो चैतन्य-विकास।
 आत्मोत्सव के रंग में, भीगी हो हर सांस।।
 कालचक्र की चाल में, बनते महल-मसान।
 फिर मन में कैसा गिला, सदा रहे मुस्कान।।

एक साधक जो महागुफा में प्रवेश कर चुका है, जो जीवन की वीतरागता के करीब पहुँच चुका है, साक्षी और दृष्टा बनकर वह मनुष्य की अंतरंग वृत्तियों को, उसके मन को निहार रहा है। वह देखता है कि व्यक्ति अपने जीवन में अपने हाथों सोने का पिंजरा बनाता है और अंततः उसी पिंजरे में, उसी कारागार में उलझकर रह जाता है। धीरे-धीरे वह अपनी बेड़ियों से, अपनी जंजीरों से आसक्त हो जाता है और उन्हें छोड़ने का नाम ही नहीं लेता है। जो बंधन से ही राग कर बैठा, जो बंधनों से आसक्ति बना चुका, भला उसे विराग और वीतराग का संदेश कैसे दिया जाए? वह व्यक्ति बार-बार मार्ग ढूँढ़ेगा, मार्ग के करीब पहुँचेगा और संसार का गुरुत्वाकर्षण उसे वापस खींच लेगा।

मैं यह नहीं कहता कि व्यक्ति वेश बदल ले या संसार छोड़ दे, लेकिन इतना अवश्य कहूँगा कि कम से कम अपने मन के बंधनों को पहचान तो ले। मैंने मनुष्य की वृत्तियों को, उसके विचारों को पढ़ा है। मैंने पाया है कि व्यक्ति भले ही बाह्य रूप से अपने आपको मुक्त महसूस करे, लेकिन उसके अंतरंग में कहीं कोई संसार का सम्मोहन अवश्य छिपा रहता है। जब तक तुम इन सम्मोहनों से मुक्त नहीं हो जाते, तो बाहर के कारागार से कैसे मुक्त हो पाओगे? आप बंधन में हैं और उससे मुक्त होना सहज नहीं है, लेकिन संबोधि-सूत्र के ये पद हमारे लिए वह संदेश, वह मार्ग लेकर आए हैं, जिससे हम बंधन-मुक्त हो सकते हैं।

सोने के ये पिंजरे, मन के कारागार।
 टूटे पर कैसे उड़े, नभ में पंख पसार।।

आकाश तुम्हें, तुम्हारी स्वतंत्रता के लिए निमंत्रण दे रहा है। तुम्हीं ने राग पाल-पोस रखा है सोने के पिंजरों से। निश्चय ही, पिंजरे सोने के हैं, सुहावने हैं, लेकिन यह तुम कब समझ पाओगे कि ये पिंजरे, पिंजरे नहीं, तुम्हारा घर नहीं, ये तुम्हारे मन का कारागार है। तुमने अपने ही हाथों से पर काट लिये हैं, पर जिसके टूटे हैं, कटे हैं, वह अनन्त गगन में छलांग कैसे भर जाएगा, आकाश भर आनंद कैसे उठा जाएगा, तुम मन के पार लगे, उन्मनी अवरथा को उपलब्ध होओ। पांख भले ही छोटी हो, तुम ज्यों-ज्यों आकाश में उड़ने की भावना से ओतप्रोत होते जाओगे, त्यों-त्यों पांख भी बढ़ जाएंगे। तुम उड़ो, आकाश तुम्हें पुकार रहा है। स्वतंत्रता तुम्हारा आह्वान कर रही है।

सूत्र का अगला चरण है 'हर मानव से प्रेम हो, हो चैतन्य-विकास।' अगर तुम संबोधि को उपलब्ध करना चाहते हो, तो तुम अपने प्रेम का विस्तार करो। सर्वप्रथम यह देखो कि तुम्हारा प्रेम तुम्हारे निजी स्वार्थ से तो नहीं जुड़ा है। एक प्रसंग आपने सुना होगा कि एक बंदरिया अपने बच्चे को अपनी पीठ पर लिए जा रही थी। तभी बाढ़ आई। वह आगे बढ़ी तो पानी गले तक आ गया। उसने बच्चे को कंधे पर बिठा लिया। पानी नाक तक आ गया, तो उसने बच्चे को पानी में डाल दिया और स्वयं उस पर खड़ी हो गई। देखो कि तुम्हारा प्रेम इतना संकीर्ण तो नहीं है ?

जब तक तुम्हारे स्वार्थ की पूर्ति उस प्रेम से होती रहेगी, तब तक प्रेम कायम रहेगा और जैसे ही स्वार्थ की पूर्ति होनी बंद हुई, तुम्हारे प्रेम में कटौती हो जाएगी। चाहे तुम सगे भाई-भाई हो, पति-पत्नी हो, माँ-बाप हो, जब तक परस्पर स्वार्थ सधता रहेगा, प्रेम का प्रदर्शन चलता रहेगा और जैसे ही व्यक्ति का स्वार्थ सधना बंद हुआ कि प्रेम रफूचक्कर हो गया। सबसे पहली आवश्यकता है कि तुम अपने प्रेम का विस्तार करो। अगर तुम कहते हो कि 'वसुधैव कुटुंबकम्'—सारी पृथ्वी मेरा आत्मीय कुटुम्ब है, तो इसके लिए आवश्यक है कि तुम अपने पड़ोसी की भी हर मुसीबत में, उसके हर गम में हमदर्द बनो, उसे सहयोग दो। अगर प्रेम का विस्तार हो जाए, तो दुनिया के अधिकांश कट्टरवादी पंथ-सम्प्रदाय अकाल धराशायी हो जाएंगे और एक नई सोच का उदय होगा, जो मानव को मानव से जोड़ेगा और कट्टरताओं का विलय होगा। यह तभी सम्भव है जब हम अपने प्रेम का विस्तार करें। अब तक हम जितने भी जीएं हैं, वे मात्र दो-पाँच, दस-बीस लोगों के लिए जीएं होंगे। काश, हम सारे छः अरब लोगों के लिए भी जी पाएं। अगर हम सम्पूर्ण अस्तित्व पर प्रेम न्योछावर करते हैं, तो सारे अस्तित्व से प्रेम हम पर बरसेगा।

‘आत्मोत्सव के रंग में, भीगी हो हर सांस ।’ तुम अपने भीतर आत्मोत्सव का ऐसा रंग जमाओ, ऐसा फागुन खेलो कि तुम्हारी हर सांस परमात्म-उत्सव से भीगी हुई रहे। संबोधि का पहला चरण यही होता है कि व्यक्ति साक्षी-भाव से, दृष्टा-भाव से अपनी एक-एक श्वास को निहारता रहे और हर उस श्वास में अँभय, परमात्ममय दिव्यता को भीतर उतारने की कोशिश करे। हमारे शरीर में शरीर और आत्मा का जिस तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित होता है, वह तत्त्व श्वास ही है। अगर वह श्वास निर्मल है, परमात्म-रंग से भीगी हुई है तो निश्चित तौर पर उसका बसेरा तुम्हारी श्वास-श्वास में, रोम-रोम में हो जाएगा, तुम्हारी सम्पूर्ण चेतना में हो जाएगा।

अपने प्रेम को लुटाओ, अपने प्रेम को कुर्बान करो। जो प्रेम का जितना विस्तार करता है, जितना प्रेम को बांटता है, उतना ही प्रेम उस पर लौटकर आता है। बादल से जितना पानी बरसता है, वह सब उसे सागर से मिलता है, लेकिन पानी को न्यौछावर करके क्या सागर का पानी कभी सूखता है ? नहीं, तुम अपने प्रेम का विस्तार करो, अपने प्रेम को फैलाओ। उसका परिणाम यह होगा कि तुम सारी धरती के लिए हो जाओगे और सारी दुनिया तुम्हारी हो जाएगी।

होना होता है जिनको अमर,
वे लोग तो मरते ही आए।
औरों के लिए जीवन अपना,
बलिदान जो करते ही आए।।

धरती को दिये जिसने बादल,
वो सागर कभी न रीता है।
मिलता है जहाँ का प्यार उसे,
औरों के जो आँसू पीता है।।

क्या मार सकेगी मौत उसे,
औरों के लिए जो जीता है।
मिलता है जहाँ का प्यार उसे,
औरों के जो आँसू पीता है।।

जिसने विष पिया, बना शंकर,
जिसने विष पिया, बनी मीरा।

जो छेदा गया बना मोती,
जो काटा गया बना हीरा।।

वो नर है, जो है राम,
वो नारी है जो सीता है।
मिलता है जहाँ का प्यार उसे,
औरों के जो आँसू पीता है।।

अगर तुम अपने प्रेम का विस्तार करते हो तो मौत तुम्हें मार नहीं पाएगी।
तुम लोगों के दिलों में जीवित रहोगे।

हर मानव से प्रेम हो, हो चैतन्य विकास।
आत्मोत्सव के रंग में, भीगी हो हर सांस।

मानव-मानव से प्रेम हो। प्राणी-प्राणी से प्रेम हो। प्रेम का इतना विस्तार हो कि धरती, अंबर तक प्रेम पहुँच जाए। तुम एक के होकर नहीं, सारे संसार के होकर जीओ। तुम्हारी हर सांस में, हर धड़कन में आत्मोत्सव का रंग हो, शाश्वत का रंग हो। अन्तर-लहर की पुलक हो।

कालचक्र की चाल में, बनते महल मसान।
फिर मन में कैसा गिला, सदा रहे मुस्कान।।

अगर तुम्हारा मकान गिर गया है, तुम्हारे मकान में आग लग गई है, तो गिला किस बात का? यह तो कालचक्र की चाल है। आज जहाँ पर महल खड़े हैं, कल वहाँ श्मशान थे और आज जहाँ मसान बने हुए हैं आने वाले कल में वहाँ महल खड़े हो जाएंगे। फिर मन में गिला किस बात का? शिकायत कैसी।

कहते हैं : एक मकान में भयंकर आग लग गई। मकान मालिक सहित परिवार के सारे लोग बाहर आ गए। मकान मालिक चीखने-चिल्लाने लगा। मकान के आसपास पानी की जितनी व्यवस्था थी, उस पानी से आग बुझाने के प्रयास किये जाने लगे। मकान मालिक को रोते-चिल्लाते देख एक व्यक्ति ने कहा—‘तुम क्यों रोते-चिल्लाते हो? तुम्हारे बेटे ने कल ही तो मकान का दस लाख का बीमा करवाया है।’ मकान मालिक यह सुनकर आश्वस्त हो गया और उसने मकान में लगी आग को बुझाने के सारे प्रयास भी छोड़ दिए। तभी उसका बेटा बाहर से आया। घर में लगी आग को देख वह हक्का-बक्का रह गया। उसने देखा कि उसके पिताजी आग को बुझाने के लिए कोई प्रयास

नहीं कर रहे हैं। उनके चेहरे पर शिकन तक न थी। उसने पिताजी से पूछा, पिताजी ने कहा, तुमने बीमा करवा लिया है, इसलिए अब कुछ करने की क्या जरूरत। बेटे ने कहा—पिताजी बीमा नहीं करवाया है। केवल बीमे की बात ही हुई है। यह सुनना था कि पिता सिर पकड़कर बैठ गया। मानो वज्रपात हो गया।

आग मकान में नहीं लगी है, आग 'मेरेपन' में लगी है। मेरे प्रभु, ऐसे एक-एक नहीं, सौ-सौ मकान जल जाएं, तो तुम दुबारा खड़े कर लोगे, लेकिन अगर सोचो इन मकानों के बनाने-संवारने के चक्कर में मालिक ही खो गया, तो उस माल का क्या !

एक मकान में जोरों की आग लगी थी। सारा सामान बाहर निकाल लिया गया। तभी पत्नी को याद आया कि मुन्ना वहीं रह गया है। आग बहुत विकराल रूप ले चुकी थी, इसलिए उसे बचा पाना बहुत कठिन था। आखिर वह बच्चा उस आग में जल गया। माल तो सारा ले आए, लेकिन मालिक ही दफन हो गया। अब भला उस बटोरे हुए माल का क्या करोगे, जरा इस पर भी तो आत्मचिंतन करो। अपने मकान के एक भाग में आग ब्रग गई, तो तुम्हारी आँखों में आँसू आ गए, लेकिन जब तुम्हारी काया में आग लगेगी, तो क्या ये चूने-पत्थरों की दीवारें आँसू बहाएगी। कहाँ का सम्बन्ध जोड़ रहे हो? कहाँ की आसक्ति जोड़ रहे हो? कहाँ के सम्मोहन पाल रहे हो? यह तो कालचक्र की चाल है। यहाँ पर तो मकान बनते हैं और फिर श्मशान में तब्दील हो जाते हैं। यहाँ कोई स्थायित्व नहीं है।

अनित्यता, क्षणभंगुरता, अशाश्वतता संसार का, प्रकृति का धर्म है। चित्त में शिकवा-शिकायत मत पालो। चित्त को चिन्तन का आयाम दो, चिन्ता का नहीं। मन को माधुर्य दो, मरघट नहीं। मन को गौरव दो, गिला नहीं।

जीवन में जो होना है, सो हो, होनी में कैसा हस्तक्षेप। तुम तो सदा तटस्थ रहो। गिला-शुबहा से खुद को आजाद करो और कुदरत की जैसी, जब, जो व्यवस्था है, उसमें तृप्त रहो।

सबसे प्रेम करो, सबका सम्मान करो। सबके साथ प्रेम से जीते हुए भी उनकी ओर से कभी उपेक्षा हो जाए तो मौन-मधुर रहो। यही आज के सूत्रों का सार-संदेश है।

□ □

साक्षी हों वर्तमान के

फकीर रिंझाई लम्बी यात्रा करता हुआ अपने गुरु के पास पहुँचा और प्रणाम कर कहने लगा, 'सद्गुरु, मैं यहाँ अभिमंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा से आया हूँ। आप मुझे अभिमंत्र दें।' 'तुम यहाँ आए तुम्हारा स्वागत है', सद्गुरु ने कहा 'लेकिन मैं तुमसे कुछ कहूँ, तुम्हें कोई अभिमंत्र दूँ उससे पूर्व तुम्हें मेरे कुछ प्रश्नों के उत्तर देने होंगे।' रिंझाई बोला, 'पूछें।' सद्गुरु ने पूछा, 'रिंझाई तुम कहाँ से आए हो।' रिंझाई ने कहा, 'प्रभु, इसी की तलाश में तो आपके पास आया हूँ। मैं कहाँ से आया हूँ यह जानने-समझने के लिए ही तो आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। हाँ, अगर आप नगर और गांव के बारे में पूछ रहे हैं तो जिस स्थान को मैं छोड़ चुका हूँ उसके बारे में मैं कभी स्मरण नहीं करता।' 'यह तो ठीक है, लेकिन जिस गांव से तुम आ रहे हो, वहाँ चावल का भाव क्या है?' गुरु ने पूछा। रिंझाई ने कहा, 'मैं जहाँ से आ गया हूँ, वहाँ से पूरी तरह आ गया हूँ। मुझे नहीं पता, वहाँ क्या है, क्या नहीं, अब इसके बारे में मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। जो दृश्य बीत गया है, जो बातें बीत गई हैं, जो स्थान छूट गया है उसके बारे में मैं कभी चिंतन नहीं करता।' गुरु ने अन्तिम प्रश्न पूछा, 'अच्छा तो तुम किस मार्ग से आए हो।' 'गुरुवर जिस मार्ग से गुजरता हूँ, उसे छोड़कर आ जाता हूँ, जिस पुल को पार कर लेता हूँ, वह मेरे लिए टूट जाता है और जिन सीढ़ियों से निकल जाता हूँ, वे मेरे लिए गिर जाती हैं। गुरुवर मैं व्यतीत का चिंतन नहीं करता और न ही भविष्य की खूंटियों में अपनी चेतना को लटकाने का प्रयास करता हूँ,' रिंझाई बोला 'मैं वर्तमान का साक्षी हूँ, वर्तमान का दृष्टा हूँ, वर्तमान की ही विपश्यना कर रहा हूँ।' तब

गुरु ने उसे अभिमंत्र दिया कि 'तुम वर्तमान में स्थित रहो—यही अभिमंत्र है। ओ मेरे परम शिष्य !'

अतीत और भविष्य ? का स्मरण करते रहना वर्तमान से वंचित होना है। जो व्यक्ति अतीत का और भविष्य का चिंतन करता रह जाता है उसके जीवन का आधा भाग स्मरण में और शेष आधा भाग कल्पनाओं के ताने-बाने में ही समाप्त हो जाता है। अतीत और भविष्य के झूले में वर्तमान लुप्त हो जाता है। जो वर्तमान का सामना नहीं करना चाहता, वही या तो अतीत की स्मृतियों को जीएगा या भविष्य के सपने संजोएगा। जिसमें आज से मुकाबला करने का साहस नहीं होता, वही कल और कल पर जीता रहता है। जरा सोचो जिसका अस्तित्व इस क्षण में नहीं है उसके स्मरण या कल्पना से क्या मिलने वाला है। माना कि तुम्हारा अतीत स्वर्णिम था, पर आज तो उसका अस्तित्व नहीं है। तब फिर उन सबके स्मरण से क्या मिल जाएगा। हाँ, मिलता है एक सुख जो आज के दुख से थोड़ी-सी राहत दिला देता है। इसके विपरीत आज तुम विपत्ति में भविष्य के स्वर्णिम होने की कल्पना कर लेते हो, इससे भी तुम्हें आज कुछ नहीं मिलता। मिलती है काल्पनिक सांत्वना, काल्पनिक सुख की आकांक्षा, पर आज? आज तो सब शून्य है। हाँ, आज तुम प्रयास कर सकते हो, तब आने वाला कल जो तुम्हारा आज होगा, शायद बेहतर हो जाए। लेकिन उसके लिए जाल फैलाना निरर्थक है। क्योंकि तुम नहीं जानते जिस बेहतरी के उपाय आज कर रहे हो, उन्हें भोगने के क्षणों में तुम होओ, न होओ। तुम्हारा अस्तित्व हो न हो। फिर यह सब संत्रास क्यों ? आज को और इस क्षण को भरपूर जी लो कि सारी कामना, आकांक्षा धुल जाए। लेकिन मनुष्य इस अतीत और भविष्य में अपना वर्तमान नष्ट करता चला जाता है।

कुछ समय पूर्व की बात है। एक अतिवृद्ध सज्जन से मिलना हुआ। उनके आग्रह पर मैं उनके घर गया हुआ था। बातचीत चल रही थी। वे अपने अतीत के किस्से बयान कर रहे थे। उनके दो पुत्र थे—एक स्वर्गीय हो चुका, दूसरा अलग रहता है। पत्नी भी नहीं रही है। पुत्रियों की शादी कर दी है। और अब उन्हें एक ही दुःख हरदम सताता है कि इस वृद्धावस्था में उनकी कोई ठीक तरीके से देखभाल नहीं करता। पुत्र और पोते अपने-अपने परिवारों में लग गए हैं। उन्होंने सबके लिए क्या कुछ नहीं किया और अब वे बिल्कुल अकेले रह गए हैं। अपने अतीत के स्मरण में वे इतना डूब गए कि उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि मैं उनके यहाँ बैठा हूँ। तब मैंने पाया कि काश जिस अतीत में वे

इतने मगन हैं उससे एक क्षण भी बाहर निकल कर देखें कि यह धरती आज भी उतनी ही सुन्दर है। आकाश उतना ही निर्मल है, वायु उतनी ही शीतल है, सूर्य उतना ही प्रखर है, चाँद-तारे उतने ही उज्ज्वल हैं। अतीत की कब्र से बाहर आए तो पाएंगे कि यहाँ सब कुछ वैसा का वैसा है। बस, तुम्हारी आँख वर्तमान की ओर खुल जाए। तुम वर्तमान के अनुपश्यी बन जाओ।

अब हमें यह देखना है कि हम जीवन का सार्थक उपयोग कैसे करते हैं। क्या जीवन की सार्थकता केवल बाह्य रूप से मंदिर जाने में है या दिखावे के लिए धर्म से जुड़े रहने में है? जब तक आंतरिक रूपान्तरण की घटना नहीं घटती तब तक चाहे वेश-परिवर्तन करो या सिर मुंडाओ अथवा वस्त्रहीन हो जाओ, कुछ फर्क पड़ने वाला नहीं है। अगर विचार-शुद्धि न हुई या चित्त-वृत्तियों में रूपान्तरण नहीं हुआ तो जन्मों-जन्मों तक संन्यास मार्ग पर चलने के बावजूद जीवन का शिलान्यास नहीं हो पाएगा और न ही परमात्मा के मंदिर में पहुँचकर भी अपने जीवन को मंदिर का रूप दे पाओगे। मैंने पाया है कि व्यक्ति बाह्य रूप से तो जीवन संवार लेता है, बाहर से तो बहुत ही स्वच्छ प्रतीत होता है, लेकिन चित्त की अन्तर्वृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता है। वर्षों से, वर्षों तक धर्म-मार्ग से जुड़े रहने के उपरान्त भी जीवन में लेशमात्र भी धर्म का समावेश नहीं हो पाता। क्या हम अपनी विचार-शुद्धि कर पाए, क्या हमारा मानस निर्मल और पवित्र हो पाया। चाहे तुमने कितने ही उपवास किए हों, कैसे भी उपासना की, शास्त्रों का पठन-पाठन करते रहे हो, यह सब ऊपर-ऊपर, बाहर-बाहर चलता रहा, एक बूंद भी अंतस् में न उतर पाई। हमारी अंतश्चेतना को कोई स्पर्श न मिला और हम अनंत भंडार से अछूते रह गए जो हमारी वास्तविक संपदा है।

बाहर तो एक ही सूर्य का प्रकाश है, लेकिन भीतर तो अनंत सूर्यों का प्रकाश है। जब भीतर उतर जाओगे तो पाओगे—'बिन बाजा झंकार उठे, रस गगन गुफा में अमिय झरै।' लेकिन तुमने धर्म किया पुण्यों के उपार्जन के लिए, न कि अन्तरमन की शांति और आनन्द पाने के लिए। तुम सुख पाना चाहते हो जो क्षणिक है, आनन्द नहीं, जो सदा सर्वदा है। उपवास, उपासना और उपनिषद् को भी केवल बाहर-बाहर जीया है। भोजन का उपवास कर लिया और किसी पर्व-तिथि पर मंदिर में जाकर रस्म अदा कर आए। लेकिन इन शब्दों के जो गहरे अर्थ थे, वहाँ तक हम नहीं पहुँच पाए। उपवास का अर्थ है आत्म-वास, अपनी आत्मा के पास बैठना; और उपासना अर्थात् भीतर में

आसन जमाना और उपनिषद् का अर्थ है स्वयं के निकट आना। निषद् अर्थात् निकट। व्यक्ति उपवास के माध्यम से अंतरात्मा के निकट जाता है।

यदि हम धर्म, अध्यात्म के संदेशों को अन्तरहृदय में उतरने देते हैं, तो हमें आत्मिक शांति की अनुभूति होगी और हम आनन्द तथा अहोभाव से भर उठेंगे। शर्त केवल यही है कि रस में अवगाहन करें, ऊपर से न बह जाने दें। तब तुम्हें सौ वर्ष तक जीने की आवश्यकता नहीं होगी, दस वर्षों में ही तुम्हें जीवन की सत्यता का अनुभव हो जाएगा। जीवन कितना जीये, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि कितनी गहराई से जीये।

हम जिन संबोधि-सूत्रों में उतर रहे हैं, उनमें निरन्तर विकास हो रहा है। वह हिमालय की शांत गुफा में बैठा हुआ साधक, अपने अन्तस् की गुफा में उतर कर आत्मलीन चेतना भीतर के ही आकाश में विचरण कर रही है। वह आत्मलीन चेतना मनुष्य को दिव्य संदेश दे रही है। ये संदेश कोहिनूर की तरह कीमती हैं। अगर इन संदेशों को, इन हीरों को स्वीकार कर सके तो वे हीरे जीवन को उज्वल कर देंगे। आज के सूत्रों का मूल भाव यही है कि व्यक्ति अपने अतीत और भविष्य से मुक्त हो जाये और वर्तमान में स्थित होकर अपनी चेतना से पहचान करे, अन्तर्वृत्तियों का रूपान्तरण करके भीतर के रहस्यों को ज्ञात करे। संबोधि-सूत्र के अभिनव पद हैं—

बीते का चिंतन न कर, छूट गया जब तीर।
अनहोनी होती नहीं, होती वह तकदीर।।
करना था क्या कर चले? बनी गले की फांस।
पंक सना पंकज मिला, बदलें अब इतिहास।।
सच का अनुमोदन करें,, दिखें न पर के दोष।
जीवन चलना बांस पे, छूट न जाए होश।।

‘बीते का चिंतन न कर, छूट गया जब तीर’—जो समय तुम्हारे हाथ निकल गया है वह लाख प्रयास करने पर भी तुम्हारे पास वापस आने वाला नहीं है। तुम अपने रुठे हुए देवता को मना सकते हो, लेकिन गुजरे हुए समय को नहीं लौटा सकते। जो तीर कमान से छूट गया, वह चाहे लक्ष्य भेद न कर पाये, पर वापस आने वाला नहीं है। इसलिए जो समय चला गया, न तो उसके विषय में सोचो और न ही अफसोस करो क्योंकि अब कुछ होने वाला नहीं है। हाँ, हो सकता है अगर तुम वर्तमान को देखो तो कुछ हो सकता है। वर्तमान में आ जाओ तो शायद भविष्य में तुम्हें दुखी न होना पड़े। वर्तमान को सुधार

लेने पर भविष्य की चिंता नहीं करनी होती। तब तुम एक सुखद मोड़ पर खड़े होते हो। इसलिए वर्तमान के प्रति सजगता, होश और सावधानी रखो। हर पल, हर क्षण अपने बोध को जगाए रखो। फिर जो कुदरती घटना है, वह घटने दो। तब तुम पाओगे कि यहाँ अनहोनी कुछ भी नहीं है। सब कुछ हो सकता है क्योंकि तुम्हारे लेख में वही लिखा है, जो बेहतर है। यह सोचकर दुखी मत होओ कि तुम्हारा पच्चीस वर्ष का बेटा काल-कवलित हो गया, भगवान से गिला भी न करो, क्योंकि ऐसा होना भाग्य का ही एक होनहार था। हाँ, इससे प्रेरणा जरूर ले सकते हो कि तुम्हारा जीवन भी अब कितना शेष रह गया है। तुम भी महाप्रयाण की ओर कदम बढ़ा रहे हो। जिस दिन भी बुलावा आ जाए। तो रंज न करो यह तुम्हारे भाग्य का ही खेल है। तुम जागो और देखो कि कल को यह शरीर भी अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाने वाला है।

मैं देखता हूँ और आश्चर्यचकित भी होता हूँ कि एक व्यक्ति अपने दादा को, अपने पिता को, अपनी पत्नी को और यहाँ तक कि अपने बेटे को भी मुखार्गि दे चुका होता है, फिर भी उसकी चेतना में आत्म-सजगता के चिह्न दिखाई नहीं देते। क्या तुम्हारी आत्मा इतनी मूर्च्छित हो चुकी है कि उसमें कोई हलचल ही नहीं होती या तुम इतने निस्पंद हो गए हो कि घटनाओं के स्पंदन महसूस ही नहीं कर पाते? मुझे याद आता है चंडकौशिक सर्प। जो भयानक विषधर था जिसकी फुंकार से पेड़ों के पत्ते भी पीले पड़ जाते थे। उसने ध्यानस्थ महावीर के अंगूठे में उंक मार दिया। अंगूठे से दुग्ध-धार बह निकली और महावीर ने केवल एक शब्द कहा—‘चंडकौशिक बुज्ज’—चंडकौशिक बोधि को प्राप्त कर और तिर्यच योनि के जीव सर्प की चेतना रूपांतरित हो गई। वह चंडकौशिक-भद्रकौशिक बन गया। क्रोध का अवतार शांत और क्षमा की मूर्ति हो गया। और तुम तो मानव हो, इंसान हो तुम्हें कोई चोट नहीं लगती जो चेतना को रूपांतरित कर सके? हम अपने भीतर टटोलें कि ऐसा क्या है जो सत्य को जानने के बाद भी हम सत्य का आचमन नहीं कर पाते।

धर्म-सम्भ्राओं में जाकर सत्य की बातें सुन लेते हैं, वक्ता बनकर सत्य के बारे में चर्चा कर लेते हैं लेकिन जब इसी सत्य की बात जीवन में आचरण पर आती है तो हम ठिठक क्यों जाते हैं? सत्य की बातें करना जितना सहज, सरल है आचरण में लाना उतना ही दूभर व दुरुह है। अच्छी बातों की अभिव्यक्ति तो बहुत आसान है, पर उन्हीं को जीवन में उतारना बहुत मुश्किल हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हमने जो भी ग्रहण किया वह बाहर ही रह

गया, हम उन बातों की गहराई तक न पहुँच पाए। हमने बाहर चारों ओर देखा, तो पाया कि सब बातें करते हैं आचरण कोई नहीं करता और हम भी भेड़चाल में शामिल हो गये। हम भूल गये कि हम वह नहीं है जो दिखाई दे रहे हैं। हमारे भीतर तो सिंहत्व की गर्जना समाई हुई है। और जिस दिन यह होश आता है, जब यह जागरूकता आती है तब हम सत्य की चर्चा नहीं करते, आचरण करते हैं। जो जीवन में हो रहा है उसका गम न करें, बस अपने बोध को जगाए रखें, शेष अनहोनी भी होनी में तब्दील हो जाएगी। तब तुम उसे अनहोनी न मानकर अपनी तकदीर का खेल ही समझोगे। तुम जानोगे कि यह होनी ही थी। कोई अनहोनी नहीं थी कि दुकान में आग लग गई, यह होने ही वाला था। जो तुम्हारे तकदीर में था वह किसी रूप में सामने आ गया।

आज का सूत्र जीवन की भव्यता और शांति पाने का सदा स्मरणीय सूत्र है : बीते को मत सोचो और अनबीते का जाल मत बुनो। जो हो रहा है, वह होनी ही है। होनी को हो लेने दो। होनी का हो जाना ही, होनी से धैर्यपूर्वक गुजर जाना ही, होनी से मुक्त होने का उपाय है।

अगला सूत्र है : 'करना था क्या कर चले बनी गले की फांस'—क्या करने को तुम्हें जन्म मिला था और क्या तुमने कर लिया। ज्ञानी कहते हैं कि गर्भस्थ शिशु भगवान से प्रार्थना करता है कि मुझे यहाँ से बाहर निकालो, इस अंधकूप से बाहर निकालो। बाहर आकर मैं तुम्हारी पूजा-अर्चना करूंगा, तुम्हारा ध्यान धरूंगा, तुम्हारी साधना करूंगा, जीवन का कायाकल्प करूंगा; और करता क्या है ?

गर्भ काल में तूने बंदे, अरे किये कितने वादे।

आकर उलझ गया दुनिया में, भूल गया सारे वादे।।

तुम जिंदगी में आए थे बंधनों से मुक्त होने के लिए पर देखो अपने अन्तस् को, तुम पाओगे कि तुम तो और जकड़ गए हो। मुक्ति कहाँ ? यहाँ तो बंधन और मजबूत हो गये हैं। तुम तो भगवत्ता का फूल खिलाने आए थे, लेकिन तुम्हारे चारों ओर शैतानियत के कांटे छाने लगे। तुम्हारी आकांक्षा तो स्वर्ग पाने की रहती है, लेकिन जीते जी स्वर्ग नहीं मिल पाता तो मरकर ही स्वर्गीय हो लेते हो। कभी सोचा है—'नारकीय' भी हो सकते हो, लेकिन संसार में स्वर्ग पाने की इच्छा बलवती रहती है और तुम स्वर्गीय हो जाते हो। यहाँ तुम आते हो हीरे तलाशने, लेकिन कांच के टुकड़े ही हाथ लगते हैं। जो-जो तुम पाना

चाहते हो वह सब हाथ से छिटक गया और हाथ में रह गई मुट्टी भर फिसलती हुई रेत। जिसे खो जाना चाहिए उसे तुमने मजबूती से पकड़ रखा है और जो तुम्हारे हाथ में होना चाहिए था, वह दूर छिटका पड़ा है। कहा जाता है न 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'—इसे हमने बिल्कुल उल्टा कर दिया है। हमारे लिए तो जगत् ही सत्य बन गया है। ब्रह्म का तो कहीं अता-पता नहीं है। वह तो मानो मिथ्या हो गया है। ऐसा नहीं कि तुम्हें पता नहीं है लेकिन तुम जानबूझकर अनजान बने रहते हो। जिंदगी गले की फांस बनकर रह गई।

'पंक सना पंकज मिला, बदलें अब इतिहास'—जो पंकज पंक से निर्लिप्त मिलना चाहिए था, वह पंक सना ही मिला है और अब समय आ गया है कि इतिहास बदल डालें। तुम्हारी वृत्तियाँ जो तुम्हें हर बार संसार की ओर धकेलती हैं उनसे उपरत होने का समय आ गया है। तुम्हें मनुष्य जन्म मिला है, अब संसार की ओर से जाग्रत हो जाओ। तुम्हारा जीवन कमल जैसा है और संसार तो पंक है ही तुम इसमें जितना उलझते हो भीतर धंसते ही चले जाते हो। तुम्हारी जिंदगी इस संसार में धंसने के लिए नहीं है। यह सोचने जैसा है कि तुमने उलझकर पा भी क्या लिया? सांसारिक दृष्टि से भी सोचो तो अगर तुम्हारे पास धन, पद, प्रतिष्ठा, मकान सब कुछ है फिर भी क्या तुम संतुष्ट हो पाए? अगर पाने को कुछ भी नहीं रह गया तो तुम कितने रिक्त हो जाओगे। अभी तो तुम दौड़ में शामिल घोड़े हो और जिस दिन तुम्हें मंजिल मिल जाएगी, फिर सोचा है, तुम क्या करोगे ? लेकिन तुम सोचते ही नहीं हो। क्योंकि जिस दिन यह सोच उभरेगा, तुम उदास हो जाओगे क्योंकि फिर होगा क्या, कुछ नहीं। अभी तो तुम सोचते ही नहीं हो, तुम्हें संसार का मिथ्यात्व आकर्षित करता है। लेकिन नहीं, अब समय आ गया है जब अपने विचारों की लगाम अपने हाथ में ले लो और मन के तुरंग को अपने हिसाब से आगे बढ़ाओ।

अवसर तुम्हारे सामने है इसे पकड़ लो और अपनी चेतना को पंक से बाहर निकालो। अपनी वृत्तियों को निरखो-परखो और उन्हें दिशा दो। क्रोध पर ही क्रोध कर लो, लोभ को उदारता की दिशा दो, माया को सत्य की ओर बढ़ लेने दो, राग को प्रेम का प्रवाह दो।

करना था क्या कर चले,
बनी गले की फांस।
पंक सना पंकज मिला,
बदलें अब इतिहास।।

हमारे जीवन का इतिहास अब बदल जाना चाहिए। जो हुआ उसे याद कर-करके तो हमने उसे गले में अटकी फांस बना लिया है। एक ऐसी फांस जो न गले से नीचे उतरती है, न बाहर निकलती है। त्रिशंकु की तरह अधर में हम लटकाये हैं, उलझाये हैं। निश्चय ही, हमें मिला है। मिलने के नाम पर जो मिला है, वह सौभाग्य-सूचक है, किन्तु एक ऐसा पंकज, एक ऐसा कमल मिला है, जो कर्दम सना, पंक सना पंकज है। अब बदलें हम जीवन की दिशा, चित्त की दशा।

‘सच का अनुमोदन करें, दिखें न पर के दोष। जीवन चलना बांस पे, छूट न जाए होश।’—अगर कभी किसी का अनुमोदन करना हो तो सत्य का ही अनुमोदन करें। बहुत हो चुका—झूठ पर झूठ के आयोजन होते रहे और हम उन्हीं पर चलते रहे। कितने धोखे खाए, कितनी ही बार पराजित हुए, लेकिन सत्य की ओर से आँख फेरे रहे। अब साधक कह रहा है एक बार सत्य की अनुमोदना करके भी देख लो। यह सत्य जीवन का सत्य है, रहस्यों का सत्य है, इनको भी परख कर देख लो। जो तुमने संसार में खोया है वह इस सत्य की अनुमोदना से पा जाओगे। इस सत्य को पाने के लिए दृष्टि अपनी ओर घुमानी होगी। अभी तक बाहर ही बाहर, दूसरों के ही दोष देखते रहे। लेकिन जब तुम सत्य की प्रतीति करोगे तो दूसरों के दोष दिखाई न देंगे। अभी तक तुम हमेशा दूसरों के दोष ही झांकते रहे हो। अब यह ताक-झांक अपनी ओर लगाओ। अपनी वृत्तियों को, अपने दोषों को देखो और उनका परिष्कार करो। देखना ही है तो दूसरों के गुण देखो, उनकी अच्छाइयाँ देखो और उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करो। कबीर कहते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

यह भी एक दृष्टि है जिसे दूसरों के अवगुण खोजने पर भी नहीं मिलते या जो अवगुणों में भी गुण खोज लेते हैं। और एक हम हैं कि अवगुणों का पुलिंदा लेकर ही चलते हैं और गुणों में भी अवगुण खोजते रहते हैं। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम दूसरों के बीच में दखलंदाजी करें।

मुझे याद है : एक बार दो दोस्त बातचीत कर रहे थे। धीमी बातचीत अचानक तनातनी में बदल गई। एक व्यक्ति वहाँ और आ गया। उन लोगों का झगड़ा बढ़ता ही गया। एक बोला, ऐसा घूसा मारूंगा कि बत्तीसों दांत बाहर आ जाएंगे। दूसरे ने कहा, क्या बकता है, मैं ऐसा घूसा मारूंगा कि चौसठ

दांत बाहर आ जाएंगे। तब वह तीसरा जो वहाँ खड़ा था बोला, बत्तीस की बात तो समझ में आती है, लेकिन चौसठ, वह कैसे? जबकि दांत ही बत्तीस होते हैं। दूसरा बोला मुझे मालूम था तू बीच में जरूर बोलेगा, इसलिए चौसठ।

दूसरों के बीच में टांग अड़ाने का यही हथ्र होता है। हमें दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पहुँचानी है। हरेक को स्वतंत्र जीवन जीने का हक है। तुम किसी गुरु के पास जाओ तो यह निर्णय करके जाओ कि ध्यान करने के लिए जा रहे हो या ध्यान रखने के लिए जा रहे हो। ध्यान रखने के लिए गए तो दोषों का पुलिंदा साथ लेकर आओगे और ध्यान करने के लिए गए तो जीवन की धारा रूपान्तरित करके वापस आओगे। हाँ, अगर तुमने चश्मा ही काला लगा रखा हो तो फिर तो सफेद दीवार भी काली ही नजर आएगी। इसलिए औरों पर दृष्टि डालने की बजाय अगर हो सके तो अपनी ओर आँखें घुमाओ। अपने जीवन के रूपान्तरण का प्रयास करो। अपने ही दोषों को देखो, अपनी ही वृत्तियों को पहचानो। अगर इनसे ही मुक्त हो गए तो पर्याप्त है। कहाँ दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप करने जा रहे हो।

जीवन में जहाँ सत्य हैं उन्हें स्वीकार करें, उनका अनुमोदन करें और परकीय दोषों की ओर दृष्टि न डालने का प्रयास करें। 'जीवन चलना बांस पे, छूट न जाए होश'—जीवन में गहन सजगता की जरूरत है। देखते हैं न, महिलाएँ पनघट पर पानी भरने जाती हैं तो घर पर बच्चों को छोड़ जाती हैं। कुएं पर पहुँच कर पानी भरती हैं। गगरियाँ सिर पर रख लेती हैं। लौटते हुए बातें भी करती हैं, हंसी-मजाक भी कर लेती हैं, ऊँचे-नीचे रास्तों से भी गुजरती हैं, लेकिन मजाल है गगरी में से जल छलक जाए, क्यों होता है ऐसा? क्योंकि वे बाह्य रूप से चाहे जो करें उनका अन्तस् मनस तो गगरी पर ही होता है। पूरी सजगता के साथ गगरी पर ध्यान रहता है। गायें जंगल में घास चरने जाती हैं। बछड़े मालिक के घर ही रह जाते हैं। गाय घास चरती है, पानी पीती है, झुंड में भी रहती है, लेकिन मन तो बछड़े में ही रहता है। एक नृत्यकार दो बांसों के मध्य बंधी डोरी पर नृत्य करता है। उसके शरीर के प्रत्येक अंग का संचालन हो रहा है, लेकिन उसका ध्यान डोरी पर है, वह पूरी एकाग्रता से डोरी का ध्यान रखता है, कहीं वह न टूट जाए। ज्ञानी कहते हैं तुम अपनी जिंदगी को ऐसी दिशा दो। जीवन तो बांस पर चलने के समान है, कहीं भूल से भी होश न खो बैठना। अगर होश छिटक गया तो समझो सब कुछ छिटक गया। महावीर तो कहते हैं तुम होशपूर्वक चलो, होशपूर्वक खाओ, उठो-बैठो,

चलो, सोओ जो भी करो होशपूर्वक करो। जो व्यक्ति होशपूर्वक, जागरूकता के साथ कोई कृत्य करता है, उस व्यक्ति को पापकर्म का बंधन नहीं होता।

आज के संबोधि-सूत्र हमें जीवन के कुछ व्यावहारिक पक्ष सिखला रहे हैं। इसी के साथ हमारी अन्तर्वृत्ति के विशोधन के लिए नया मार्ग दे रहे हैं। अतीत का स्मरण छोड़ें और वर्तमान से संतुष्ट होने का प्रयास करें, भविष्य की कल्पनाओं के जाल भी न बुनें। वर्तमान को सुंदर बनाएँ, जीवन को नई दिशाएँ दें, नए आयाम दें। ध्यान की गहराइयों में डूबकर नई ऊर्जा को प्राप्त करें। और इस ऊर्जा का उपयोग जीवन के रूपान्तरण में करें, जीवन में शाश्वतता के रंग भरें।

□ □

शान्त मनस् ही साधना

अस्तित्व की जितनी रेखाएँ हैं, नियति की रेखाएँ उससे कहीं ज्यादा हैं। नियति से ही अस्तित्व संचालित होता है। अनंत रेखाएँ हैं नियति की। जो हुआ, उसे इसलिए प्रेम से स्वीकार कर लो, क्योंकि ऐसा ही होने वाला है। जो हो रहा है, उसे भी ऐसे ही स्वीकार कर लो, क्योंकि वही होने वाला है; और जो होगा वह होने वाला है, इसलिए होगा। चाहे मनुष्य की इच्छाएँ हों, पुरुषार्थ हो या परिणाम हो, निश्चित तौर पर इन सबकी जीवन में महत्ता है, लेकिन नियति इन सबके पार है। मनुष्य के अधीन न इच्छा है, न पुरुषार्थ है और न ही परिणाम। यह अस्तित्व का मोटा सत्य है और इसे हम विधि की व्यवस्था या नियति भी कह सकते हैं। जो चेतन, चेतन था, चेतन है और चेतन रहेगा, वह कभी भी अचेतन नहीं हो सकता। और जो अचेतन कभी अचेतन था, आज अचेतन है और अचेतन ही रहेगा। वह कभी चेतन नहीं हो सकता।

जो होनहार होता है, वह तो होकर ही रहता है, इसके बावजूद मनुष्य कुछ अच्छा होने पर स्वयं को अच्छा महसूस करता है और कुछ बुरा होने पर स्वयं को बुरा। किसी मित्र को देखने पर उसके अंतःकरण में प्रेम पनपता है, तो किसी शत्रु को देखकर स्वतः वैर उपजता है। किसी का जन्म होने पर प्रसन्नता और किसी की मृत्यु पर खेद। विकास पर प्रसन्नता और अवनति पर विषाद। यही तो मनुष्य के आत्मिक अशांति के मूल निमित्त बनते हैं। और दूसरा सत्य यह है कि प्रायः अशांति बाहर से कम, मनुष्य के अंतस्-मन से ज्यादा निपज कर आती है और यह अशांति ही उसके जीवन के आनंद को छीनने में सबसे बड़ी भूमिका अदा करती है। जो कुछ मिल रहा है, अच्छा मिल रहा

है। उसे प्रेम से स्वीकार करो। अगर व्यक्ति सुख और दुख, दोनों को समान रूप से, जो हुआ अच्छा हुआ मानकर यदि व्यक्ति यह स्वीकार कर ले, तो असंतोष और अतृप्ति से बचा हुआ कहा जा सकता है।

मुझे याद है—किसी सम्राट के हाथ के अंगूठे में कोई घाव हो गया। उपचार कर लेने के बावजूद घाव ठीक न हुआ और अंततः राजा का अंगूठा काटना पड़ा। अपना अंगूठा कट जाने के कारण सम्राट स्वयं को आंशिक विकलांग महसूस करने लगा और हर समय खिन्न रहने लगा। और तो और, राजसभा में बैठे, तो भी उसके चेहरे पर खिन्नता स्पष्ट झलक कर आती थी।

एक दिन महामंत्री ने सम्राट से उदासीनता का कारण पूछा। सम्राट के कारण बताने पर महामंत्री ने कहा, 'आप इस बात के लिए खिन्न न हों। अगर अंगूठा कटा है, तो भगवान ने अच्छा समझा होगा, तभी कटा है। जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है।

महामंत्री की बात सुन सम्राट और कुपित हो गया। मेरा तो अंगूठा कटा है और यह कह रहा है कि जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है। रुष्ट हुए सम्राट ने मंत्री को कारागार में डाल दिया।

कई दिन बीत गए। कहते हैं, एक दिन सम्राट शिकार खेलने जंगल में गया। किसी हिरण के पीछे वह इतना तेज घोड़ा दौड़ाता हुआ चला गया कि सारे सैनिकों से अलग होकर वह मार्ग भटक गया। भीलों की बस्ती में भीलों ने सम्राट को पकड़ लिया। उन्हें देवी के लिए बलि चढ़ाने को एक इंसान की आवश्यकता थी। सम्राट के लाख मना करने पर वे माने नहीं। देवी के सामने बलि चढ़ाने के लिए सम्राट को उपस्थित किया गया। जैसे ही तलवार सम्राट की गर्दन पर चलने वाली थी कि अचानक भीलों के गुरु ने कहा कि इस मनुष्य की बलि नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसके हाथ का अंगूठा कटा हुआ है। देवी के द्वार पर तो पूर्ण शरीर की ही बलि दी जाती है।

सम्राट को छोड़ दिया गया। वह तो आश्चर्यचकित था विधि की व्यवस्था को देखकर। जिस कटे अंगूठे को उसने अपने लिए अभिशाप माना था, वही जीवन के लिए वरदान बन गया। उसे मन्त्री की बात की स्मृति हो आई। उसने मन ही मन मन्त्री को धन्यवाद दिया और क्षमा चाही। सम्राट राजमहल पहुँचा और मंत्री को मुक्त करते हुए कहा, 'मंत्री, तुमने ठीक कहा था कि जो होता है, वह अच्छा ही होता है। और उसने अपनी सारी आपबीती बताई।

अगर जीवन की हर अच्छी-बुरी घटना को यह मानकर चलो कि जो हो रहा है, अच्छा ही हो रहा है, तो शायद हम कभी दुखी, पीड़ित और क्लान्त होने से बच सकते हैं। आज के सम्बोधि-सूत्र के वचन हमें कर्त्ता-भाव से मुक्त करते हुए विधि की व्यवस्था या नियति की व्यवस्था को स्वीकार करने का संदेश दे रहे हैं। एक साधक के लिए तो यह काफी कीमती सूत्र हैं। संबोधि-सूत्र के इन अंतिम पदों का हम बूंद-दर-बूंद अमृतपान करने का प्रयास करें, तो ये अमृत-सूत्र हमारे जीवन को अमृत-धर्मा बना सकते हैं।

आज के सूत्र हैं—

बसैं नियति के नीड़ में, प्रभु का समझ प्रसाद ।
 भले जलाए होलिका, जल न सकैं प्रहलाद ॥
 कर्त्ता से ऊपर उठें, करे सभी से प्यार ।
 ज्योत जगाए ज्योत को, सुखी रहे संसार ॥
 शांत मनस् ही साधना, आत्म-शुद्धि निर्वाण ।
 भीतर जागे चेतना, चेतन में भगवान ॥

साधक को अगर साधना के मार्ग पर बिना रुकावट बढ़ना है, तो यह सूत्र उसके लिए पाथेय है। 'बसैं नियति के नीड़ में, प्रभु का समझ प्रसाद'—जीवन की समस्त व्यवस्थाओं को अपनी नियति और प्रभु का प्रसाद मानकर अगर स्वीकार कर लेता है, तो उस व्यक्ति को जीवन में कभी भी खोने पर हीनता और पाने पर महानता की अनुभूति नहीं होती। अपने अहम् को अर्हम् में और स्वयं को सर्व में ढाल दिया जाए, तो अहम् भाव स्वतः विगलित हो जाता है।

साक्षी-भाव ध्यान की मूल आत्मा है और इसके लिए आवश्यक है कि हम विधि के विधान को प्रेम-भाव के साथ स्वीकार कर लें। साक्षित्व का मतलब ही यही है कि व्यक्ति कर्तृत्व-भाव से मुक्त होकर दृष्टा-भाव में आ गया है। जो हो रहा है, उसे प्रेम-भाव से स्वीकार कर रहा है। साक्षित्व ध्यान का मूल प्राण है, और साक्षित्व के लिए नियति पर अपनी दृष्टि बनाए रखना आवश्यक है। साक्षित्व का मतलब है कोई क्रिया नहीं, कोई विचार नहीं कोई भाव नहीं। मात्र तुम स्वयं में बसे हो। एक शुद्ध-संतुष्ट दशा। ध्यान का मतलब न तो कर्म के विपरीत होना है और न ही जीवन से पलायन। ध्यान का मतलब है कि तुम्हारा जीवन गतिशील है। इतना अधिक गतिशील है कि पहले तुम में जितनी प्रगाढ़ता थी, जितना आनंद था और जितनी सृजनात्मकता थी, उसमें बढ़ोतरी

हो जाती है, लेकिन तुम उस पर्वत-शिखर पर पहुँच जाते हो जहाँ से नीचे चारों ओर जो हो रहा है, उसे मात्र साक्षी-भाव से देखते हो।

इसलिए कहा 'बसैं नियति के नीड़ में'—जो विधि की व्यवस्थाएँ होनी हैं, हो रही हैं। तुम केवल इन्हें सहज भाव से स्वीकार करो। अगर मीरा जहर को प्रभु का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लेती हैं, तो वह अमृत बन जाता है। वैसे ही अगर तुम जीवन में मिलने वाले दुःख को भी प्रभु का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लो, तो वह दुख सुख में बदल सकता है। रूपांतरण की यह कीमिया है।

'हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश हरि हाथ।' जब जीवन ही प्रभु का प्रसाद है, तो जीवन में मिलने वाली सुविधाओं और असुविधाओं को हम उनका प्रसाद मान कर क्यों नहीं स्वीकार कर सकते हैं। प्रभु को धन्यवाद दो। हर क्षण धन्यवाद से भरे रहो। जैसे ही आँख खुले, परमात्मा के प्रति अहोभाव से तुम्हारा हृदय भर जाए। प्रभु की कृपा, आज फिर जीवन मिला। हर दिन हमारा नया जीवन है। अगर तुम्हें कोई एक गिलास ठंडा पानी पीने को दे, तो उसे तुम धन्यवाद देते हो, लेकिन जिसने यह जीवन दिया, इसके प्रति कभी धन्यवाद समर्पित कर पाए हो ? मंदिर में भी जाकर हमने सदा-सर्वदा परमात्मा की प्रार्थना करते हुए अपनी शिकायतों का पुलिंदा ही पेश किया है। मुझे यह न मिला, मेरा यह छिन गया। तुम्हारी प्रार्थना प्रभु की प्रार्थना नहीं, प्राप्ति की प्रार्थना है। प्रार्थना, प्रार्थना ही रहनी चाहिए। उसमें याचना न हो। इसलिए सदा-सर्वदा अपनी नियति को साधुवाद ही देते रहो और जीवन को प्रभु का प्रसाद मानकर अहोभाव से जीने का प्रयास करो।

‘विधि का विधान जान, हानि-लाभ सहिये,
जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिए।

जैसा राम रखे वैसा ही ठीक है। सूत्र का अगला चरण है—‘भले जलाए होलिका, जल न सके न प्रह्लाद’—होलिका लाख कोशिश करले लेकिन अगर प्रह्लाद को बचना है, तो वह बचेगा ही और अगर जल मरेगी तो होलिका ही जलेगी। विधि-व्यवस्था के सामने तो हर कोई असहाय ही होता है। सिकन्दर जो विश्व-विजेता कहलाता था, भरी जवानी में उसकी मृत्यु को कोई टाल थोड़ी सका। जिस सीता के अपहरण हो जाने पर राम स्वयं युद्ध करते हैं, विधि की व्यवस्था तो देखो कि उसी को राम निर्वासित भी करते हैं। यह

विधि की व्यवस्था ही तो है कि जो दिन राम के राज्याभिषेक का था, वही उनके वनवास का दिन बन गया।

जब जो होना होता है, वह होता है। जो हो गया, उसके लिए गिला भी मत करो। जो न कर पाए, उसका शिकवा तम पालो। हमसे उतना ही हुआ है, जो हमारी नियति में रहा। अनुचित हुआ, तो भी और उचित हुआ, तो भी, सबकी प्रेरिका नियति रही। हम हर हाल में मस्त रहें, मुक्त रहें। इसीलिए कहा : 'कर्ता से ऊपर उठें, करें सभी से प्यार'। बड़ा महत्वपूर्ण पद है यह संबोधि-सूत्र का। व्यक्ति कर्तृत्व-भाव से मुक्त हो जाए। जहाँ कर्तृत्व-भाव है, वहाँ कर्म है और जहाँ कर्तृत्व-भाव से मुक्ति है, वहाँ कर्म-मुक्ति है। कर्तृत्व-भाव ही तो व्यक्ति को संसार से जोड़ता है। जो कर्ता-भाव से मुक्त है, वह सदा मुक्त है। कर्ता-भाव से मुक्त होने के लिए तीन सूत्र दिए जा सकते हैं—विषयों के प्रति अनासक्ति, मनोवृत्तियों के प्रति जागरूकता और सदा साक्षित्व की स्मृति।

चित्त के जो विषय-धर्म हैं, वे व्यक्ति को कर्ता-भाव के संस्कार देते हैं। चित्त-विषयों के प्रति जैसे-जैसे अनासक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे संस्कार बनने बंद हो जाते हैं और संस्कारों में होने वाली कटौती मनुष्य के कर्तृत्व-भाव की कटौती है। असंख्य विषय है चित्त के और साधक साधना के द्वारा धीरे-धीरे उनके प्रति अनासक्ति के भाव पैदा कर सकता है। दूसरा सूत्र है—मनोवृत्तियों के प्रति जागरूकता। यानी अपनी वृत्तियों के प्रति बोध बनाए रखना। मनोवृत्तियों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारम्भ हो जाता है और साक्षित्व की स्मृति से स्वयं में प्रवेश का द्वार खुलता है।

'कर्ता से ऊपर उठें, करें सभी से प्यार'—सबसे प्रेम हो। हमारा प्रेम सार्वभौम होना चाहिए। जो प्रेम आरोपित होता है, वह कुछ से जुड़ता है और जो प्रेम अन्तरप्राणों से निपजा होता है, वह सबसे जुड़ा होता है। प्रेम तब राग बन जाता है, जब वह डबरा बन जाता है। राग तब प्रेम बन जाता है, जब वह डबरे से सागर बन जाता है। एक अनुस्यूत प्रेम है और एक आरोपित प्रेम। आरोपित प्रेम निमित्त पाकर सक्रिय होता है। और आत्मिक प्रेम महावीर, बुद्ध और जीसस की तरह सदा-सर्वदा अन्तरप्राणों में प्रवाहित रहता है। यह मानवीय प्रेम की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है कि यदि जीसस को क्रॉस पर भी लटकाया जाए, तो वह प्रभु से प्रार्थना करते हैं—प्रभु ! इन्हें माफ कर। महावीर के कानों में कोई कीलें भी ठोकें तो भी उनकी चेतना प्रमुदित रहती है। बुद्ध की अगर कोई वेश्याओं से बदनामी भी करवा दे, तो भी उसके प्रति सात्विकता

का भाव है। यह उनकी करुणा की जीवंतता है। प्रेम में न तो कोई सज्जन होता है, न कोई दुर्जन। वह तो सार्वभौम होता है। सब में प्रभुता को निहारकर प्रेम दिया, लिया जाता है—

सब में देखूँ श्री भगवान

हर प्राणी में महाप्राण का, तत्त्व समाया है अनजान।
पहचानें उस परम तत्त्व को, ऐसी दृष्टि दो भगवान॥

हम सब हैं माटी के दीये, सबमें ज्योति एक समान।
सबसे प्रेम हो, सबकी सेवा, ऐसी सन्मति दो भगवान॥

देख किसी को मन मैला हो, तो मन में धरें तुम्हारा ध्यान।
मन हो जाये पूजा का घर, ऐसी शुद्धि दो भगवान॥

आँखों में हो करुणा हरदम, होटों पर कोमल मुस्कान।
हाथों में हो श्रम और सेवा, ऐसी शक्ति दो भगवान॥

चाहे सुख-दुख, धूप-छाँव हो, चाहे मिले मान-अपमान।
व्याधि में भी रहे समाधि, ऐसी बुद्धि दो भगवान॥

द्वेष नहीं, हम वीतद्वेष हों, मंगलमय हो तन-मन प्राण।
चन्द्र निहारे सबमें उसको, जो सबका मालिक भगवान॥

जब हम मंदिर में जाकर किसी पत्थर की प्रतिमा में परमात्मा को स्वीकार कर उसकी पूजा कर सकते हैं, तब इन प्राणियों के अंतरप्राण में बसे उस महाप्राण को स्वीकार कर इनसे प्रेम क्यों नहीं कर सकते ? अपने प्रेम को विस्तार दो, उसे अस्तित्व से जोड़ो। जब तुम अपने बच्चे को प्यार दे सकते हो, तो पड़ोसी के बच्चे के प्रति प्यार क्यों नहीं उमड़ता है। जब किसी फूल को देखकर मुस्करा सकते हो और उसे हृदय से लगा सकते हो तो किसी झुगगी-झोंपड़ी में रहने वाले किसी बच्चे को देखकर उसे गले लगाने के लिए तुम्हारे अन्तरमन में भाव क्यों नहीं उपजते। हमारा प्रेम सार्वभौमिक हो। हम अपनी खुशियों को बटोरने की बजाय, उन्हें बाँटने का प्रयास करें। इस धरती को धन से स्वर्ग नहीं बनाया जा सकेगा। तुम प्रेम दो, प्रेम लो। सारा जीवन प्रेममय बना दो, यही तो धरती का स्वर्ग होगा।

‘ज्योत जगाए ज्योत को, सुखी रहे संसार’। तुम अपने जीवन को ऐसा ढालो कि एक ज्योति अनंत में रूपांतरित हो जाए। उस ज्योत का जलना क्या

सार्थक हुआ, जिसने केवल स्वयं को ही जलाए रखा। ज्योति का जीवन तभी सार्थक है, जब वह औरों में भी ज्योति का संस्कार दे पाए। तुम ध्यान में जीना चाहते हो, प्रेम ध्यान की सुवास है। यदि हम ध्यान करते हैं, तो मानकर चलो कि प्रेम और सेवा से शून्य ध्यान हमें जीवन में रूक्षता दे बैठेगा। हमारे भीतर जगे एक प्रगाढ़ प्रेम, एक ऐसा प्रेम, जो मस्तिष्क से नहीं अपितु हृदय से जाग्रत हो। हृदय से जगा प्रेम सम्पूर्ण अस्तित्व से हमें जोड़ेगा और तब प्रेम से हमारे अन्तरमन में कुछ पाने की ख्वाहिश न होगी। हमारा प्रेम याचक का प्रेम नहीं, एक सम्राट का प्रेम होगा। फिर दुश्मन भी हमें देखकर निहाल हो जाएगा और हमारे इर्द-गिर्द प्रेम और करुणा की ऐसी सुवास बिखरनी शुरू हो जाएगी, जो कभी महावीर, बुद्ध, जश्नुध्र और जीसस के पास रही थी। फिर तो अकारण प्रेम जगेगा, हमारे भीतर। कोई अगर झगड़ा करने आ भी जाए, तो हमारी सौम्यता उसे माफ कर देगी।

अपनी भावनाओं को औरों के लिए लुटाने का प्रयास करो। यह तुम्हारा सौभाग्य है कि हमें प्रेम पाने और बाँटने का अवसर मिल रहा है। अगर जन्म दिवस है हमारे बच्चे का और हम चाहते हैं कि उसे जन्मदिवस पर शुभकामनाएँ मिले, तो पारिवारिक भोज आयोजित कर धन का अपव्यय करने की बजाय जाओ किसी अनाथालय में, और वहाँ जाकर अपने पुत्र के हाथ से अनाथ बच्चों को भोजन कराओ, जाओ किसी अस्पताल में और मरीजों को फल दो, दवा दो। ऐसा करके हम औरों की सच्ची शुभकामनाएँ पाने के हकदार होंगे।

जोत से जोत जगाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।
राह में आए जो दीन-दुखी, सबको गले से लगाते चलो।।

जिसका न कोई संगी-साथी, ईश्वर है रखवारा।
जो निर्धन है, जो निर्मल है, वो है प्रभु का प्यारा।
प्यार के मोती लुटाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।।

आशा टूटी, ममता रूठी, छूट गया है किनारा।
बंद करो मत द्वार दया का, दे दो कुछ तो सहारा।
दीप दया के जलाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।।

छाया है चहुँ ओर अंधेरा, भटक गई है दिशाएँ।
मानव बन बैठा है दानव, किसको व्यथा सुनाएँ।
धरती को स्वर्ग बनाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।

भक्ति शक्ति है, धर्म कर्म है, ज्ञान मुक्ति का पथ है।
 आत्मा की अनंत यात्रा में, यह तन तो बस रथ है।
 पथ अनेक हैं, रथ अनेक हैं, एक लक्ष्य दिखाते चलो।।
 उस विराट में हो विलीन तुम, नित्य ही अलख जगाते चलो।।
 कौन है ऊँचा, कौन है नीचा, सबमें वो ही समाया।
 भेदभाव के झूठे भरम में, ये मानव भरमाया।
 धर्म-ध्वजा फहराते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।
 सारे जग में कण-कण में है, दिव्य अमर इक आत्मा
 एक ब्रह्म है, एक सत्य है, एक ही है परमात्मा।
 प्राणों से प्राण मिलाते चलो, प्रेम की गंगा बहाते चलो।।

अपने जीवन में इस गीत को जितना जी सकते हो, उतना ही जीवन का कल्याण है। शायद देश के हर बच्चे ने इस गीत को गाया है। काश ! इसे गाने के साथ पीया भी गया होता, जीया भी गया होता। संबोधि-सूत्र मनुष्य के जीवन में यही प्रेरणा देता है। 'ज्योत जगाए जोत को, सुखी रहे संसार।' हर अमीर व्यक्ति गरीब का साथी बन जाए और हर सुखी व्यक्ति दुखियों का सहायक, तो इस संसार को सुखी होने से कौन रोक सकता है ? इस दुनिया में गरीबी इसलिए नहीं है कि दुनिया में धन की कमी है, वरन् इसलिए है कि हम एक-दूसरे के सहयोगी नहीं हैं। अगर एक अमीर व्यक्ति सौ गरीब परिवारों का सहायक बन जाता है, तो दुनिया से आधी गरीबी तो स्वतः मिट जाएगी।

संबोधि-सूत्र अपने अंतिम चरण में साधक को शांत-मनस् होने की प्रेरणा दे रहा है। 'शांत मनस् ही साधना, आत्म-शुद्धि निर्वाण।' मन से मुक्त होओ। शांत मन ही सदा-सर्वदा शांति की फुहारें देता है।

ध्यान मन को साधने की प्रक्रिया है। जीवन में कर्म और ध्यान दोनों आवश्यक हैं। ये न समझें कि ध्यान से हमारी सक्रियता निष्क्रियता में रूपांतरित हो जाएगी। कर्म से जीवनयापन होता है, पर जीवन के सत्य का अनुसंधान ध्यान से ही हो पाएगा। हमारे मन की अशांति का सबसे बड़ा कारण है कि पदार्थ हमारे जीवन में सबसे प्रधान बनता जा रहा है। और सच्चाई तो यह है कि हमारी खोज विज्ञान की खोज है, पदार्थ की खोज है। स्वयं के द्वारा स्वयं की तलाश का उपक्रम नहीं किया जा रहा है। हम पदार्थों में इतने ज्यादा उलझ गए हैं कि हमने चेतन सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया और ध्यान का उपयोग हृदय-शुद्धि के लिए कम, तनाव-मुक्ति के लिए ज्यादा किया जाने लगा

है। ध्यान वास्तव में सत्य को खोजने के लिए है। उस सत्य को खोजने के लिए जो मनुष्य के अन्तःअस्तित्व में अन्तर्लीन है। चेतना की स्वतंत्र-सत्ता का अनुभव करने के लिए और स्वयं की उपलब्धि के लिए ध्यान है।

हम दुख से घिरे हैं, एक अकारण दुख से। और उसका मूल कारण है हम दुख के मूल को नहीं हटा पाते हैं। परिणामतः प्रयास कर लेने के बावजूद हम अन्तरदुख से मुक्त नहीं हो पाते हैं। जहाँ ममत्व-दृष्टि है, वहाँ दुख है। इसलिए ममत्व दृष्टि को सम्यक्दृष्टि में रूपांतरित करो। शांत मन की साधना तभी संभव है जब मन प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त हो जाए। तुम्हें वह सब प्रिय है, जो तुम्हारी संवेदनाओं में सुख की अनुभूति कराता है। वह अप्रिय है, जो दुख के किसी निमित्त से जुड़ा हुआ हो। ध्यान का सम्बन्ध केवल अन्तर्शांति को उपलब्ध करना नहीं है, अपितु ज्ञाता का बोध उपलब्ध करने के लिए है। अच्छा या बुरा कभी किस पदार्थ का गुणधर्म नहीं होता। वह तो मन के संवेदन से ही जुड़ा होता है। गर्मी में बर्फ प्रिय है और सर्दी में उष्णता। न तो बर्फ में प्रियता है और अप्रियता है और न ही उष्णता में ही। प्रियता और अप्रियता का चश्मा अगर हम उतार दें तो उसके बाद अच्छे और बुरे का गुणधर्म स्वतः समाप्त हो जाता है। शांत मन के लिए हर प्रतिकूल अनुकूल होता है। जो है, अच्छा है, जैसा है, अच्छा है। शांत मन का स्वामी होने के लिए चेतना का स्पर्श करें। आत्मा के प्रश्न का हल न तो उपदेश से मिलेगा और न ही शास्त्रों से। यह तो केवल अनुभूतिगम्य होता है। भला अभिव्यक्ति में अनुभूति को कैसे लाया जाए। गूंगे केरी सर्करा वाली बात है यह तो। अब गूंगा भला गुड़ के स्वाद को कैसे अभिव्यक्त करे।

जब तक हम शांत मन के स्वामी नहीं हो जाते, तब तक हमारी अशुभ लेश्याएँ रूपांतरित नहीं हो पाती हैं और न ही हम अपने आत्मिक आभामंडल को स्वच्छ और शक्तिशाली बना पाते हैं। शांत मनस् व्यक्ति के लिए ही तो सम्भव है कि वह अपने विचार और संवेदनाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है और जिसे हम अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं, वह मनुष्य के लिए शांत मनस् स्थिति को उपलब्ध करने के बाद पाया गया परिणाम है। फिर हमारी भाषा भी भाषा नहीं रहती, वह तरंग बन जाती है। तीर्थकरों के बारे में कहते हैं कि वे वाणी का उच्चारण नहीं करते, केवल तरंगें देते हैं। और सभी अपनी भाषा में उसे समझ लेते हैं। जब व्यक्ति इस क्षमता को उपलब्ध कर लेता है, तो यह मत समझ लेना कि वह केवल कानों से ही सुनता है, अपितु वह आँखों से भी सुनना शुरू कर देता है और वह केवल आँखों से ही नहीं देखता। फिर वह नाक

और कान से भी देखता है। सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय का स्वामी बन जाता है वह। इसी को बुद्ध स्रोतापन्न स्थिति कहते हैं। जहाँ सारा शरीर देखता है, सारा शरीर सुनता है।

‘शांत मनस् ही साधना, आत्मशुद्धि निर्वाण’। आत्मशुद्धि शांत मन का परिणाम है। क्योंकि आत्मा न तो शुद्ध है और न ही अशुद्ध। हाँ, उसके इर्द-गिर्द जो अन्य तत्त्व हैं उनका शुद्धिकरण होता है। इसे यों समझें कि जैसे कोई ज्योति जल रही है और उसके इर्द-गिर्द धुआँ भी है। उस धुएँ का हट जाना, छँट जाना या मिट जाना इसी का नाम है निर्वाण, अन्तर्-पवित्रता की उपलब्धि; और इसके लिए आवश्यक है आत्मशुद्धि की उपलब्धि, मिथ्या दृष्टिकोण का रूपांतरण। केवल ध्यान की बैठक लगा लेने मात्र से या कायोत्सर्ग कर शिथिलीकरण कर लेने मात्र से मुक्ति कहाँ सम्भव होगी। सम्भव है तुम ध्यान की बैठक में होओ, लेकिन इसके बावजूद तुम उस बैठक में भी किसी को धोख देने की योजना बना सकते हो। शांत मन के स्वामी बनो, यही तुम्हारे लिए साधना का मार्ग है। आत्मशुद्धि और निर्वाण इसकी मंजिल और उपलब्धि है।

‘भीतर जागे चेतना, चेतन में भगवान।’ जग जाए भीतर में परम चैतन्य। यही तुम्हारी भगवत्ता का मूल है। जन्म-जन्मांतर तक संन्यास और मुक्ति के मार्ग पर चल लेने के बावजूद अंतश्चैतन्य के जाग्रत हुए बिना मुक्ति का मार्ग उसे परिणाम नहीं देता और बूंद में छिपे सिंधु से वह वाकिफ नहीं हो पाता। यह संबोधि-सूत्र हमारे लिए जीवंत प्रेरणा रहा है। जड़ से हटकर चेतन में और चेतन से महाचैतन्य में स्थित होने की यात्रा है यह। प्रभु ने संबोधि-सूत्र के माध्यम से कुछ अच्छी बातें आपको कहने का मौका दिया। और मैं इसके माध्यम से आपसे कुछ कह सका, इसका मुझे आत्म-तोष है।

हम अगर अपनी अन्तरगुहा के करीब आएँ, भीतर बैठक लगाएँ, भीतर की महागुफा हमें चेतना के प्रकाश से आलोकित करने के लिए आमंत्रित करती है। आएँ, उतरें, अन्तरमन में, अन्तरगुहा में, महागुहा में, अन्तस् के आकाश में।

□ □

